॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

७८

॥ श्रीः ॥

उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

'रमा' हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार

झा-बन्धु

पं० रमाकान्त झा एम० ए०
व्याकरण-वेदान्ताचार्य,
प्रधानाचार्य
महर्षि सं० महाविद्यालय
रेवतीपुर, गाजीपुर

पं० हरिहर झा एम० ए०
व्याकरण-साहित्याचार्य,
अध्यापक
सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१
दूरभाष : ६३०७६

चतुर्थ संस्करण १९९०
मूल्य १५-००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ यू. ए, जवाहरनगर, बंगलो रोड
पो० बा० नं० २११३
दिल्ली ११०००७
दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

78

UTKIRNALEKHAPANCAKA

(A COLLECTION OF FIVE PILLAR INSCRIPTIONS)

With the

'Rama' Hindi Commentary



By

JHA BANDHU

(Pt. Ramakanta Jha M A.; Pt. Harihara Jha M. A.)



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

(Oriental Publishers & Distributors)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building,
Post Box No 1069
VARANASI 221001

Telephone : 63076

4th Edition
1989

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 57214



CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007

Telephone : 236391



जिनके विद्यामन्दिर

की

आधार-शिला

पर

बैठकर

कतिपय अभिलेख-कुसुमों

का

गुम्फन हो सका

उन्हीं

पुण्यश्लोक महामना मालवीयजी

को

पावन स्मृति में

सभक्ति समर्पित

❀

निवेदन

भारत की पुरातत्त्व-सामग्रियों में अभिलेखों का महत्त्व विचारणीय है। ये अभिलेख प्राचीन भारत के वास्तविक स्वरूप की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इनमें अधिकतर लेख विभिन्न विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में पाठ्य विषय के रूप में निर्धारित हैं। एम० ए० में हम लोगों को भी कुछ अभिलेखों के अध्ययन का सौभाग्य मिला था। किन्तु उस समय निर्धारित अभिलेखों पर कोई पुस्तक बाजार में उपलब्ध नहीं थी, अतएव विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित श्री डी० सी० सरकार महोदय के मूल अभिलेख तथा श्री देसकालकर महोदय का अंग्रेजी अनुवाद ही हम लोगों के अध्ययन के एक मात्र अवलम्ब थे। व्यक्तिगत छात्रों के समक्ष तो यह समस्या खड़ी ही रही। उसी समय अपनी तथा अन्य छात्रों की कठिनाइयों को ध्यान में रखकर हम लोगों ने कुछ अभिलेखों के संकलन का निश्चय किया और चौखम्बा विद्याभवन के हितेच्छुक विद्वान् पं० रामचन्द्र झा जी के माध्यम से वहाँ के अध्यक्ष महोदय के परामर्श के बाद हम कार्य में प्रवृत्त हुए। किन्तु बीच में ही अध्यक्ष महोदय के विशेष आग्रह से कादम्बरी (शुकनासोपदेश) का सम्पादन भार लेना पड़ा। अतः इसके प्रकाशन में कुछ विलम्ब अवश्य हो गया। आज हम 'उत्कीर्णलेखपञ्चक' को छात्रों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए हम लोग अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

प्रस्तुत 'ग्रन्थ' में अभिलेखों के हिन्दी अनुवाद के साथ ही ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्वों का सविस्तर विवेचन किया गया है। साथ ही ऐतिहासिक एवं भौगोलिक नामों पर संक्षिप्त टिप्पणी भी दे दी गयी है। इस पुस्तक के सम्पादन में ऐतिहासिक विवेचन-प्रसंग में माननीय डा० रमाशंकर त्रिपाठी, श्री नरेन्द्र नाथ घोष तथा डा० वासुदेव उपाध्याय की पुस्तकें, एवं साहित्यिक विवेचन प्रसंग में श्री देसकालकर महोदय की पुस्तक विशेष उपादेय सिद्ध हुई है। अतः हम उन महानुभावों के प्रति कृतज्ञ ही नहीं, नतमस्तक भी हैं। साथ ही जिन सहपाठियों के क्लास-नोट्स भी सहायक हुए हैं, उनके प्रति आभार प्रकट करना तो अपने को ही धन्यवाद देना है। यदि यह ग्रन्थ छात्रों का कण्ठहार बन सका तो अपने तुच्छ-श्रम को हम लोग सफल मानेंगे। अस्तु,

विनीत—

—झा-बन्धु

विषय-सूची



उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

करबदरसदृशमखिल भुवनतल यत्प्रसादत कवय ।
पश्यन्ति सूक्ष्ममतय सा जयति सरस्वती देवी ॥

प्रस्तावना

अभिलेखों का महत्त्व :—

प्राचीन भारतीय इतिहास-निर्माण में सहायक—

भारतवर्ष संसार के प्राचीनतम एवं महानतम देशों में अग्रगण्य है। ऋषियों का यह आदेश "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः." के गम्भीर उद्घोष से विश्व के ज्ञानगुरु पद को अलंकृत करता था। इस पवित्र देवभूमि के उद्बुद्ध दार्शनिकों की ज्ञान-ज्योति से समस्त भूमण्डल का अज्ञान-तिमिर हट जाता था। इस देश की पवित्रता और रमणीयता पर रीझ कर देवता भी यहाँ अवतीर्ण होने को ललच उठते थे। इसके ही मंगलमय प्रभात में अन्य देशवासी अपनी अलसायी आँखों को खोलते थे। किन्तु सर्वप्रथम विश्व को मानवता का पाठ पढ़ाने वाला यह भारत एक दिन विधि के क्रूर अट्टहास का लक्ष्य बना। सदियों तक भारत माँ के चरणों में विदेशी लौहशृंखला झनझना उठी। जो कभी इसकी पदधूलि थे, वही सिर के ताज बन बैठे। बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से यह देश आधुनिक तथाकथित सभ्य देशों की पंक्ति से निकाल दिया गया और विश्व के समक्ष इसे अनार्य देश के रूप में रखा गया। हमारे देश, समाज और संस्कृति को प्रतिबिम्बित करने वाला सत्साहित्य और इतिहास लूट लिया गया। उसकी जगह मनगढ़न्त पिछड़ेपन का तथाकथित इतिहास रच-रचा कर यहाँ की वास्तविक स्थिति पर परदा डाला गया। साथ ही पाश्चात्य मनीषियों ने यह प्रवाद भी फैलाया कि भारतवर्ष में यहाँ के जनजीवन की झाँकी प्रस्तुत करने वाले इतिहास का सर्वथा अभाव है। अगर कहीं कुछ है भी तो उसमें तिथियों तथा घटनाओं का क्रमिक और प्रामाणिक उल्लेख नहीं है। किसी भी देश में राजनीतिक उथल-पुथल की क्रमबद्ध तिथियों और घटनाओं के सूचीमात्र को ही इतिहास की संज्ञा देने वाले आधुनिक ऐतिहासिक यह भूल गये कि भारतीय आदर्श के अनुसार इतिहास का उद्देश्य तिथियों और घटना-चक्रों का उल्लेख मात्र नहीं, अपितु मानव-जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों को महापुरुषों के जीवन में घटाते हुए राष्ट्र के सांस्कृतिक अभ्युदय में अपूर्व योगदान

देना भी था। हमारे यहाँ इस उद्देश्य के पूर्तिस्वरूप पुराण, रामायण एवं महाभारत सच्चे इतिहास का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सभी दिन एक से नहीं होते। उत्थान और पतन तो विश्व का अनिवार्य क्रम है। बहुत दिनों तक परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ी मानवता जब चीख उठी तो सपूतों का माथा ठनका और ऊषा की पहली किरण के साथ ही हमें उद्बोधन मिला। ईश्वरीय अनुकम्पा तथा राष्ट्रपिता के अहिंसा-बल ने विजयपताका फहरायी।

स्वतन्त्र भारत में परतन्त्रकालीन मिथ्यारोपों का खण्डन आवश्यक प्रतीत हुआ और अपनी भूली सांस्कृतिक-परम्परा का अन्वेषण तथा मूल्यांकन होने लगा। इसी प्रसंग में विदेशियों द्वारा कल्पित इतिहास का पर्दाफाश कर सच्चे राष्ट्रीय इतिहास-निर्माण की योजना बनी और उस महानतम कार्य की सफलता प्राप्ति के साधनों में इन अभिलेखों ने अपना महत्वपूर्ण अभिनय प्रस्तुत किया। सदियों से मूक अभिलेखों ने अपना हृदय खोल दिया और तब पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने इस अक्षय-निधि से अपने इतिहास को सजाने का भगीरथ प्रयास किया। सामान्यतः इतिहास-निर्माण में जिन तत्त्वों की उपादेयता होती है, उनकी उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में होने लगी।

विचार करने पर स्थूल रूप से इतिहास के दो पक्ष हैं—बाह्य और आन्तरिक। इतिहास के बाह्य पक्ष से हमारा तात्पर्य किसी देश विशेष की भौगोलिक स्थिति से है और आन्तरिक पक्ष से राजवंश, शासन-प्रबन्ध, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक स्थिति से। अब देखना यह है कि इतिहास के उपर्युक्त दोनों पक्षों की सामग्री जुटाने में अभिलेखों ने कहाँ तक सहायता की है? इसी दृष्टिकोण को आधार मानकर हम उनके महत्त्व का विवेचन करेंगे।

बाह्य पक्ष :—

भौगोलिक दृष्टि से :—

इतिहास-निर्माण में अपेक्षित प्राचीन भारत का भूगोल जानने के लिए पुराने अभिलेखों से पर्याप्त सहायता मिलती है। विभिन्न राजवंशीय अभिलेखों में निर्दिष्ट नगर, सीमा, मार्ग तथा विजय-यात्रा की चर्चा से भौगोलिक वातावरण की झाँकी मिल जाती है। साहित्यिक एवं यात्रा सम्बन्धी ग्रन्थों से भारत के प्राचीन भूगोल का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, अभिलेखों के माध्यम से उसका

समीकरण तथा वास्तविक स्थिति की एक निश्चित रेखा खिंच जाती है। अभिलेखों का उपलब्धि-स्थान उस राज्य की सीमा का निर्देश करता है। भारतीय सम्राटों के विजय-प्रयाण का मार्ग प्राचीन-कालीन यातायात तथा व्यापारिक पथ विशेष का परिचय देता है। तीर्थ-यात्रा या दान के प्रसंग में किसी शासक द्वारा भ्रमण किये गये स्थान तथा दान की चर्चा करते समय नदियों तथा उनके तटवर्ती नगरों का अभिलेखीय-वर्णन भी भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट करता है। राजनीतिक एवं धार्मिक प्रयोजन-वश दूतों का उल्लेख करते समय प्रशस्तियों में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के नाम भी मिलते हैं। अन्य उपलब्ध प्रमाणों के साक्ष्य पर भी भौगोलिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। यथा—अशोक के स्तम्भ-लेख का परिशीलन उसे चुनार का सिद्ध करता है और यह भी कि उतने वजनी स्तम्भों को सुदूर प्रदेशों में भेजने के लिए गंगा में बेड़ों का सहारा लिया गया होगा। इसी प्रकार अन्य स्तम्भों के विषय में भी अन्य नदी-मार्गों का अनुमान लगाया जाता है। इसी तरह साक्षात् नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से भी अभिलेखों के द्वारा भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान हो जाता है।

नगर चर्चा :—

अभिलेखों में राजाओं की राजधानी तथा उनसे सीधा सम्बन्ध रखने वाले नगरों का उल्लेख मिलता है। कलिंग-विजय के बाद बौद्ध-धर्म-दीक्षित अशोक ने धर्म-लेखों द्वारा तोसली (वर्तमान धौली), उज्जयिनी तथा तक्षशिला प्रभृति विभिन्न प्रान्तों के कुमारों के पास अपना संदेश भेजा था। स्वयं भी तथागत की जन्मभूमि लुम्बिनी, साधना-क्षेत्र बोध-गया और प्रचार-स्थल सारनाथ की तीर्थ-यात्रा की थी। सारनाथ स्तम्भ-लेख में संघ-भेद के प्रसंग में पाटलिपुत्र की भी चर्चा आयी है। मौर्यों के उत्तराधिकारी पुष्यमित्र को अयोध्या-लेख में 'कोशलाधिप' कहा गया है। स्मरणीय है कि अयोध्या उत्तर कोशल की राजधानी थी। दक्षिण भारत के सात-वाहन नरेशों के अभिलेखों में गोवधनस (नासिक) जयस्कन्धावार के रूप में उल्लिखित है। ई० सन् प्रथम शताब्दी में कुषाण-नरेश कनिष्क की राजधानी पेशावर, तक्षशिला के समीप में ही थी। उसके सारनाथ बुद्ध-प्रतिमा-लेख में बनारस का प्राचीन नाम वाराणसी का उल्लेख है। शक-क्षत्रप नहपान के नासिक लेख में प्रभास, भरुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन, शोर्पारग तथा रुद्रदामन् के जूनागढ़ शिलालेख में आकरावन्ति, सुराष्ट्र कच्छ, आनर्त आदि प्रदेशों का नाम मिलता है। अशोक के तेरहवें शिलालेख में कलिंग तथा

आन्ध्र प्रदेश का निर्देश है। गुप्तकालीन सम्राट् समुद्रगुप्त के विजय प्रसंग में प्रयाग प्रशस्ति में कोशल, पीठापुर, कांची प्रभृति स्थानों का नाम दक्षिण भारत के विजय प्रसंग में तथा समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल प्रभृति प्रदेशों के नाम सीमान्त राज्यों के रूप में उल्लिखित हैं। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के विजित प्रान्तों में काकनाड अर्थात् प्राचीन साँची का, तथा कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसौर अभिलेख में लाट और दशपुर इन दो प्रधान व्यापारिक नगरों का उल्लेख है। गुप्त-नरेशों के समकालीन राजाओं के मुद्रानियों-शिलालेखों में पुष्कर और हर्ष-वर्धन के बाँसखेड़ा ताम्रपत्र में अहिच्छत्र भुक्ति का नाम आया है।

मध्ययुग में तीर्थों की विशेष चर्चा के कारण प्रयाग, वाराणसी तथा अयोध्या का नाम अवसद, कलचुरी तथा गहड़वाल दानपत्र के लेखों में तीर्थ के रूप में आया है। पाल नरेश धर्मपाल के खालिमपुर देवपाल के नालन्दा तथा नारायण पाल के भागलपुर ताम्रपत्रों में क्रमशः महोदय (कन्नौज) नालन्दा तथा मुंगेर की चर्चा है। एहोल-अभिलेख में चालुक्य-वंशी शासक पुलकेशी प्रथम तथा द्वितीय की विजय प्रशस्ति में वातापी पुरी तथा काञ्चीपुर का वर्णन है। मध्ययुगीय चन्देल राजाओं के अभिलेखों में कान्यकुब्ज तथा कालिंजर नगरों का वर्णन एवं दिल्ली के स्तम्भ-लेख में विग्रहराज के विन्ध्य से लेकर हिमालय तक की तीर्थयात्रा का वर्णन है। इस प्रकार विहगम-दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर अभिलेखों में निर्दिष्ट प्रदेशों तथा प्रमुख नगरों की तालिका से भारत के भौगोलिक वातावरण की एक स्थूल रूपरेखा प्राचीन भौगोलिक ज्ञान में नितान्त उपयोगी सिद्ध होती है।

सीमा निर्देश :—

ऊपर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि कुछ अभिलेखों में शासकों की विजय-यात्रा का वर्णन मिलता है जिनके आधार पर प्राचीन भारत की विभिन्न राज्य-सीमाओं तथा मार्गों का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है। अभिलेखों में वर्णित विजय प्रयाण से यह अनुमान लगाना कठिन है कि समस्त विजित प्रदेश साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये जाते थे, किन्तु उस राज्य तथा उसके निकटवर्ती राज्यों की सीमाओं का ज्ञान अवश्य हो जाता है। यथा—अशोक के तेरहवें शिलालेख में कलिंग-विजय के प्रसंग में उसी के साथ सीमा पर स्थित अन्य भारतीय यूनानी राज्यों के नाम भी उल्लिखित हैं। अशोक के द्वितीय तथा पंचम शिलालेख में वर्णित राज्यों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि अशोक

की राज्य-सीमा सुदूर दक्षिण से सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा अफगानिस्तान के भूभाग तक फैली थी। यह दूसरी बात है कि अशोक को केवल कलिंगविजय श्री ही हाथ लगी। क्योंकि उसकी पैतृक राज्य-सीमा पहले से ही विस्तृत थी, जो उसे उत्तराधिकार के रूप मे मिल चुकी थी।

ईसवी सन् के प्रारम्भ मे पश्चिमोत्तर प्रान्त मे शासन करने वाले कुषाणनरेश कनिष्क ने अपनी राज्य-सीमा को पूरब मे काशी तक फैलाया था, जिसकी पुष्टि पेशावर तथा बहावलपुर रियासत से उपलब्ध कुर्रम तथा स्यूविहार ताम्रपत्रो से और सारनाथ प्रतिमा लेख से होती है। अभिलेखो के प्राप्ति-स्थान भी भौगोलिक-सीमा पर प्रकाश डालते हैं। गुप्तवश के अभिलेख उस साम्राज्य की भौगोलिक सीमा के निर्धारण में विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति मे आर्यावर्त तथा दक्षिणापथ क्रमश. उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के लिए प्रयुक्त हुए हैं। उस अभिलेख का अनुशीलन यह बतलाता है कि उत्तरी भारत मे समुद्रगुप्त की राज्य-सीमा मथुरा तक तथा दक्षिण भारत मे कांची तक विस्तृत थी। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के मेहरौली लौहस्तम्भ लेख मे "तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका:" इस उक्ति से पजाब तक उसकी राज्य-सीमा का निर्देश मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वि० की राज्य-सीमा की पुष्टि सांची-वेदिका तथा उदयगिरि-गुहालेख से भी होती है। मध्ययुग के पालवशी अभिलेखों के साथ ही सेन-वंशी लेखों से तत्कालीन भौगोलिक सीमा का ज्ञान होता है। चालुक्य अभिलेख (ऐहोल) में मगधेश की विजय-सीमा भारत मे बाहर लका तक चर्चा गयी थी। वहीं पर पुलकेशी द्वितीय की राज्य-सीमा महाराष्ट्र, कोशल तथा कलिंग से लेकर दक्षिण पूर्व में कांची और कावेरी तक थी। यह अभिलेख दक्षिण भारत के अन्य राज्यों की सीमाओं का भी निर्देश करता है। आशय यह है कि इन अभिलेखों से प्राप्त राज्य-सीमा की सूची से भौगोलिक ज्ञान अधिक साकार हो उठता है, जो इतिहास-निर्माण की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

मार्ग-निर्देश :—

प्राचीन मार्गों का जैसा वर्णन साहित्य मे मिलता है वैसा तो अभिलेखों में नहीं मिलता किन्तु उनमे वर्णित राजाओं के यात्रा विवरण में प्राचीन भारत के विभिन्न मार्गों का चित्र उपस्थित हो जाता है। पहले प्रधानतया अभिलेखो के अनुसार स्थलमार्ग और जलमार्ग का संकेत मिलता है। इसके साथ ही यातायात

तथा व्यापारिक अभिलेखों से तत्कालीन मार्ग सम्बन्धी भौगोलिक स्थिति का परिज्ञान होता है। विभिन्न अभिलेखों में उत्तरी भारत के लिए उत्तरापथ और दक्षिणी भारत के लिए दक्षिणापथ इन दो नामों से भारत के विशाल भू-भाग को अभिव्यक्त किया गया है। ये मार्ग भी उद्देश्य-भेद से दो प्रकार के बनवाये जाते थे—(१) यात्रा-मार्ग तथा (२) अभियान-मार्ग।

यात्रा-मार्ग :—

बौद्ध-साहित्य तथा अशोक के द्वितीय शिलालेख से यह भली भाँति ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध उरुवेला से सारनाथ तथा साकेत मार्ग से श्रावस्ती गये थे, जिन मार्गों के बीच-बीच में सैकड़ा आराम (विश्राम-स्थान) बने थे। अशोक जब उज्जयिनी तथा तक्षशिला का राज्यपाल था तो वहाँ तक सुगमता से यात्रा तय करने के लिए उसने अच्छे-अच्छे मार्गों का निर्माण और उन मार्गों के किनारे वृक्षों तथा कूपों का भी आयोजन करवाया था।

इन विभिन्न लेखों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि पाटलिपुत्र से तक्षशिला तक प्रशस्त राजमार्ग था, जिसकी शाखा सारनाथ से कौशाम्बी तथा उज्जयिनी होकर भरौंच बन्दरगाह तक चली गयी थी। इसी प्रसंग में नदी पार करने वाले मार्गों में घाटों का उल्लेख आया। नासिकलेख में दूबा, पारदा, तापी तथा दाहनुका प्रभृति नदियों की चर्चा आयी है, जिनके पाटकरों को ऋषभदत्त ने माफ कर दिया था और यात्रियों के लिए वहाँ पर विश्राम-स्थान बनवा दिया था। कुछ व्यापारिक-मार्गों की भी चर्चा आयी है। प्राचीन समय में व्यापार का उत्तरदायित्व श्रेणी नामक संस्था पर था। गुप्त-युग के दामोदरपुर ताम्रपत्रों में 'सार्थवाह' शब्द का प्रयोग आया है, जो व्यापारिक-संस्थाओं का मुखिया माना गया है। 'सार्थ' को व्यापारिक-समूह और उस दल के नेता को 'सार्थवाह' कहा जाता था। कुमारगुप्त प्रथम के अभिलेख में कोटिवर्ष (उ० बंगाल) के सार्थवाह वसुमित्र तथा बुधगुप्त के दामोदरपुर-ताम्रपत्र में वसुमित्र का उल्लेख है। व्यापारियों का यह समूह विभिन्न मार्गों से बैलगाड़ी या घोड़ों अथवा गदहों या ऊँटों पर सामान लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान में व्यापार करता था। इन प्राचीन यातायात-साधनों द्वारा विभिन्न किन्तु सुरक्षित तथा सुगम मार्गों से साधारण जनता तथा व्यापारियों का आवागमन होता था। निष्कर्ष यह कि मौर्य-शासन-काल से ही भारत में प्रजाहित के लिए सुगम राजपथ प्रशस्त थे।

अभियान-मार्ग :—

अभिलेखों में शासकों के अभियान (आक्रमण) वृत्तान्त से यह ज्ञात होता है कि उनकी सेनाएँ किसी न किसी सुगम मार्ग का सहारा लेकर ही शत्रु-राज्य की सीमा का अतिक्रमण करती रही होंगी। अशोक के तेरहवें शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके द्वारा कलिंग-विजय के लिए कई लाख सैनिकों को सुगमता से वहाँ तक पहुँचने के हेतु सुलभ मार्ग का अन्वेषण हुआ होगा। प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण-विजय के लिए एक नवीन मार्ग का सहारा लिया था, जो आजकल प्रयाग से जबलपुर की ओर जाता है। दक्षिण-पूर्व भाग के शासकों को पराजित करता हुआ समुद्रगुप्त काञ्ची तक चला गया था। तदनन्तर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिम भारत की विजय की। दक्षिण के ऐहोल अभिलेख में पुलकेशी द्वितीय की विजय-यात्रा के मार्गों का सविस्तर वर्णन मिलता है।

इस प्रकार इन अभिलेखों से मार्ग सम्बन्धी भौगोलिक स्थिति का ज्ञान होता है। पेशावर से बंगाल, मथुरा से दिल्ली-रांची होते हुए बम्बई, पटना से प्रयाग, जबलपुर होकर बम्बई तथा कलकत्ता, मद्रास का वर्तमान रेलगाडी का मार्ग प्राचीन मार्ग पर ही अवलम्बित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त समुद्री जल-मार्ग का निर्देश भी शक-क्षत्रप रुद्रदामन के जूनागढ़-अभिलेख में मिलता है, जिसने समुद्र के किनारे तक अपना अधिकार जमाया था। उसी अभिलेख में आनर्त, सौराष्ट्र, अपरान्त, मरु प्रभृति बन्दरगाहों का उल्लेख है। इस प्रकार भौगोलिक दृष्टि से इतिहास निर्माण की दिशा में अभिलेखों का महत्त्व आँका जा सकता है।

आन्तरिक पक्ष :—

ऐतिहासिक दृष्टि से .—

प्राचीन भारत के इतिहास-प्रणयन में अभिलेखों से उपादेय तत्त्वों की उपलब्धि होती है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। यद्यपि अभिलेखों के मूल्याङ्कन में सतर्कता इस बात में होनी चाहिए कि ये लेख शुद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों की प्राप्ति में कहाँ तक सहयोग देते हैं? तथापि अतिशयोक्ति को छोड़कर यदि इन अभिलेखों के ऐतिह्य पर विचार किया जाय तो उसकी उपयोगिता अवश्य आँकी जा सकती है। इतिहास-निर्माण की दिशा में पुरातत्त्व-सामग्रियों में अभिलेख का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि जहाँ साहित्य दुर्बोध है, वहाँ पुरातत्त्व विषयों

की सहायता से इतिहास तैयार होता है। जहाँ पर इतिहासकार केवल लिखित साधनों पर निर्भर करता है वहाँ पुरातत्त्व हजारों वर्ष के पुराने खण्डहरों को खोदकर इतिहास रचाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित बातों की प्रामाणिकता अशोक के अभिलेखों से सिद्ध हो चुकी है। हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति से रघुवंश में वर्णित विजय-यात्रा की पुष्टि होती है। एवमेव हर्ष के अभिलेखों से बाण के कथनों की पुष्टि होती है। इन्हीं अमूल्य अभिलेखों के अध्ययन मनन के फलस्वरूप प्राचीन भारत का इतिहास आधुनिक वैज्ञानिक स्तर पर भी प्रामाणिक सिद्ध हो सका है। इतना ही नहीं, भारतीय संस्कृति की विश्वव्यापी गरिमा इन्हीं अभिलेखों की देन है। छोटे अभिलेखों में भी अमूल्य ऐतिहासिक निधियाँ सुरक्षित हैं। यथा—मास्की लेख के आधार पर ही मौर्य सम्राट् का व्यक्तिगत नाम 'अशोक' प्रकाश में आ सका, अन्यथा उनका धर्म-अभिलेख उन्हें 'प्रियदर्शी' तक ही सीमित रखता। अभिप्राय यह है कि प्राचीन अभिलेख अशोक, कनिष्क, गौतमीपुत्र शातकर्णी, रुद्रदामन्, समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त द्वि०, स्कन्दगुप्त, चालुक्य-नरेश पुलकेशी द्वि०, धर्मपाल तथा ध्रुव आदि शासकों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। उनके प्रताप, राजनीतिज्ञता, धार्मिक सहिष्णुता, प्रजा-वत्सलता और कीर्ति की गाथा सुनाते हैं। अन्यथा इन प्रसिद्ध इतिहास पुरुषों का वास्तविक चरित्र आज भी लोगों के लिए अनुकरणीय नहीं हो पाता। अशोक के अभिलेखों में केवल कलिंग-विजय की चर्चा है, अतः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि कलिंग को छोड़कर हिमालय से मद्रास तक का प्रदेश चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही जीता था। दक्षिण में मौर्य उत्तराधिकारी सातवाहन-नरेश ईसा पूर्व दूसरी सदी से चौथी सदी तक शासन करते रहे। नासिकगुहालेख के आधार पर सातवाहन-नरेश गौतमीपुत्र शातकर्णी की विजय तथा नहपान की पराजय की बात प्रकाश में आती है।

शक क्षत्रप रुद्रदामन् की ख्याति उसके जूनागढ़ शिलालेख में वर्णित है, जिसने दक्षिणापथ-पति शातकर्णी को दो-दो बार हराया था। प्रयाग-प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा का सुन्दर वर्णन है, जिसका विवेचन हम उस अभिलेख के प्रसंग में किए हैं। मध्ययुग में कन्नौज पर अधिकार करने के लिए प्रतिहार, राष्ट्रकूट तथा पाल-नरेशों में परस्पर युद्ध की स्थिति बनी रहती थी, जिसकी पुष्टि सोरसुगहालय-लेख, खालिमपुर-प्रशस्ति तथा ग्वालियर-प्रशस्ति से होती है। उनमें ध्रुव, धर्मपाल तथा वत्सराज के विजय-पराजय का उल्लेख है।

उपर्युक्त तीनों वर्षों के अभिलेखों से शासकों में वंशानुगत बद्ध वैर-जनित युद्ध-भावना का स्पष्ट संकेत मिलता है। इसी प्रकार ऐहोल प्रशस्ति में पुलकेशी द्वितीय की जीवन-कथा तथा उसके द्वारा कन्नौज-नरेश हर्षवर्धन के पराजित होने की बात सिद्ध होती है "भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः"। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन मूक किन्तु सजीव अभिलेखों के महत्त्व का वर्णन जितना भी किया जाय थोड़ा ही है।

अब हम आन्तरिक पक्ष के अपेक्षित साधनों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

वंश-वृक्ष :—

अभिलेखों का परिशीलन तत्सम्बन्धित राजाओं की वंश-परम्परा का ज्ञान कराता है। जिस शासक के राज्य-काल में अभिलेख उत्कीर्ण होता था उसके पूरे वंश वृक्ष का उल्लेख कर दिया जाता था। यद्यपि ईसा पूर्व सदियों में यह बात नहीं थी, किन्तु १५० ई० में रुद्रदामन् के जूनागढ़ शिलालेख में उसकी वंशावली का स्पष्ट उल्लेख है—"स्वामिचष्टनस्य पौत्रस्य राज्ञ क्षत्रपस्य सुगृहीत-नाम्न स्वामिजयदाम्न पुत्रस्य राज्ञ महाक्षत्रपस्य रुद्रदाम्न"। पश्चिमी भारत के शक-क्षत्रपों के मुद्रा लेख में भी पिता पुत्र दोनों का नाम है।

गुप्त-कालीन अभिलेखों में वंशावली की परम्परा चरम सीमा पर थी। समुद्र-गुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख तथा स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ-लेख में पूरी वंशावली इस प्रकार दी गयी है—

"महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य, महाराज श्री घटोत्कच पौत्रस्य, महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्त-पुत्र-तत्परि-गृहीतो महादेव्या ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमार-गुप्तस्य''''''प्रथितविपुलधामा नामतः स्कन्दगुप्तः"। कहीं-कहीं पर स्कन्दगुप्त की जगह पुरुगुप्त और उसकी वंशावली की भी चर्चा आयी है, जिससे गुप्तों की दूसरी वंश-शाखा का भी ज्ञान हो जाता है। गुप्तकालीन वाकाटक राजा विन्ध्य-शक्ति के ताम्र-पत्र में उसके पितामह प्रवरसेन तथा पिता सर्वसेन का नाम आया है—"प्रवरसेन-पौत्रस्य श्री सर्वसेनपुत्रस्य धर्म महाराजस्य वाकाटकाना श्री विन्ध्यशक्ति ''"। प्रस्तर या धातु पत्र पर खुदे लेखों से जो वंशवृक्ष मिलते हैं उनसे प्रतिहार-नरेश महेन्द्रपाल की राज-मुद्रा से उस वंश के राजा दसर राजों

का क्रमबद्ध नाम मिलता है। हर्षवर्धन के बाँसखेडा ताम्रपत्र मे नरवर्धन से हर्षवर्धन तक शासको तथा रानियो के नाम उल्लिखित हैं। इसी प्रकार ऐहोल के अभिलेख मे चालुक्यनरेशो की वंशावली निर्दिष्ट है। बंगाल के पालवंशीय राजाओ का वंशविवरण खालीमपुर ताम्रपत्र मे मिलता है। इस भाँति प्राचीन अभिलेखो से अनेक भारतीय शासकों के वंशवृक्ष का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

जहाँ तक राजाओ के पारस्परिक युद्ध तथा विजय-प्रयाण के वर्णन की बात है, उसके विषय मे उन राजाओं के अभिलेखों में सविस्तर विवेचन आया है, जिसकी आवश्यक चर्चा हम उन अभिलेखो के प्रसंग मे आगे करेंगे।

शासन व्यवस्था :—

अभिलेखों के अध्ययन से प्राचीन शासन-पद्धति की भी रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। प्रशस्ति उत्कीर्ण करते समय अथवा राजाज्ञा प्रसारित करते समय राज्य के कुछ पदाधिकारियों का भी उल्लेख आवश्यक ढंग से किया जाता था। मौर्य-कालीन शासन-व्यवस्था का ज्ञान अशोक के अभिलेखों से होता है। अशोक-काल से ही पदाधिकारियों की पदवी तथा कार्य के सम्बन्ध में उल्लेख है। अशोक के पंचम तथा तृतीय शिलालेख मे धर्ममहामात्य, राजुक, प्रादेशिक तथा युक्त नामक पदाधिकारियों को प्रजा-हित की दृष्टि से राज्य मे भ्रमण करने की आज्ञा थी। इससे यह लक्षित होता है कि राजनीति के ग्रन्थों में वर्णित पदाधिकारियों की नियुक्ति शासकों द्वारा होती थी। अशोक के अभिलेखों से यह पता चलता है कि उनका साम्राज्य प्रान्तों में बँटा था, जहाँ पर राजकुमार भी प्रान्तपति के रूप मे शासन करते थे। गुप्त-अभिलेखों मे गुप्तशासन-प्रणाली का सविस्तर वर्णन मिलता है। प्रयाग का स्तम्भ-लेख यह बतलाता है कि प्रशस्ति का लेखक हरिषेण महादण्डनायक, सान्धिविग्रहिक तथा कुमारामात्य पद को भी सुशोभित कर चुका था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि-लेख में सनकानिक महाराज सामन्त तथा वीरसेन सेनापति का उल्लेख है। गुप्त-लेखों से यह ज्ञात होता है कि साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त होता था और उन प्रान्तों पर शासन करने वाले राज्यपाल, राष्ट्रिय, भोगिक, भोगपति तथा गोप्ता इन शब्दों से सम्बोधित होते थे। प्रान्तो को भी जिला (विषय) मे बाँटा जाता था, जिसका उल्लेख दामोदरपुर ताम्रपत्रों मे आया है। वहाँ से यह ज्ञात होता है कि मन्त्रियों की नियुक्त पाँच वर्षों के लिए होती थीं। नगर के कार्यालय को

अधिकरणक कहते थे। स्कन्दगुप्त के जूनागढ अभिलेख मे उसके द्वारा सुराष्ट्र के प्रान्तपति तथा नगर-रक्षक के रूप मे पर्णदत्त तथा उसके पुत्र चक्रपालित की नियुक्ति का उल्लेख है। विभिन्न अभिलेखों म निम्नलिखित कतिपय प्रशासनिक अधिकारियो की सूची इस प्रकार मिलती है। यथा—राजा, राजानक, राजपुत्र, राजामात्य, सेनापति विषयपति, भोगपति, षष्ठाधिकृत, दण्डपाशिक, चौरोद्धरणिक, अमात्य, ज्येष्ठकायस्थ, बलाधिकृत, दण्डनायक, धर्ममहामात्र, विषयव्यवहारिन्, सामन्त, सान्धिविग्रहिक, महादण्डनायक आदि। शासन व्यवस्था के सम्बन्ध मे दक्षिण भारत के दो लेख बहुत महत्वपूर्ण हैं—एक तञ्जोर के समीप नालूर से तथा दूसरा मद्रास के समीपवर्ती उत्तर मेरूर नामक स्थान से मिला है। इन लेखो के अध्ययन से मध्ययुग के आरम्भ मे ग्रामशासन पद्धति का पता चलता है। अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'सभा' ग्राम के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव स्थानीय सभी प्रकार की समस्याओ की देख-रेख तथा उनका समाधान करती थी। उत्तर मेरूर का लेख अपने ढग का अकेला है, जिसमें सभा की विभिन्न उपसमितियों, सदस्य-निर्वाचन तथा कार्य-शैली पर प्रकाश डाला गया है, जो प्रजातत्र ढग की शासन-पद्धति का द्योतक है। अभिलेखों में संयुक्तशासन की भी चर्चा यत्र-तत्र मिलती है। इसी प्रसग मे कुछ लेखों के आधार पर नारी-शासकों का उल्लेख भी आया है, जिसकी पुष्टि वासमोरी मुद्रालेख तथा 'सोमलदेवी' के मुद्रा-लेख से होती है।

प्रजातन्त्र :—

अभिलेखों तथा मुद्रालेखों के अध्ययन से प्राचीन युग मे दो प्रकार के शासन—प्रजातत्र तथा राजतत्र का पता लगता है। प्रजातत्र के लिए उस समय गण या संघ शब्द का प्रयोग होता था। यद्यपि चन्द्रगुप्त मौर्य की प्रबल साम्राज्य-भावना से सघ-शासन छिन्न-भिन्न अवश्य हो गया फिर भी उसका उन्मूलन नहीं हो सका। उत्तरीबिहार में 'वृज्जिसघ' इतिहास-प्रसिद्ध प्रजातत्र शासन था। अशोक के शासनकाल से साम्राज्य-भावना को और भी बल मिला, जिसके प्रभाव से संघ-शासन अपना सिर उठा न सका, किन्तु अभिलेखों के परिशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजतत्र के साथ ही सघ-शासन भी चलता रहा। ईसा पूर्व सदियों मे भारत मे प्रचलित सिक्कों के मुद्रा लेख इस बात को प्रमाणित करते हैं। यौधेय, कुनिन्द, आर्जुनायन तथा मालव सघ-शासकों के सिक्कों पर स्पष्टरूप से लेख खुदा है—यथा-"यौधेय गनस्य जय., मालवानां गणस्य जयः,

आर्जुनायननाना जय" ये लेख पूर्वोक्त कथन की पुष्टि मे प्रमाण हैं। मालव-गण का उल्लेख तथा यौधेय-गण का वर्णन, शक-नरेश नहपान के नासिक तथा रुद्रदामन् के जूनागढ लेखों मे क्रमश पाया जाता है। समुद्रगुप्त के प्रयागस्तम्भ-लेख से पता चलता है कि गुप्त-नरेश ने "मालवार्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर" सघों की पराजित किया था। उसके बाद सघ-शासन का अस्तित्व मिट-सा गया। इस प्रकार ईसा पूर्व तीसरी सदी से चौथी सदी तक अर्थात् सात सौ वर्षों तक दो प्रकार के शासन का उल्लेख अभिलेखों मे पाया जाता है।

उत्तर मेरूर अभिलेख प्रजातन्त्र शासन-पद्धति के स्वरूप की भव्य झांकी प्रस्तुत करता है। उसमे ग्राम-सभा की समिति के स्वरूप, उपसमिति का निर्वाचन निर्वाचन-पत्र तथा उम्मीदवार सम्बन्धी विशद विवेचन मिलता है।

उससे पता चलता है कि उस भूभाग के निवासी राजनीतिक मूल अधिकार तथा चुनाव-सस्था की ओर विशेष ध्यान देते थे। न्याय तथा तात्विक विचारों के आधार पर अपना कार्यक्रम बनाते थे। केन्द्रीय सरकार तथा सभा के कार्य का विवेचन करते समय ग्राम के नियमों को विशेष आदर प्राप्त था। यदि सभासद किसी सार्वजनिक कार्य के लिए ऋण लेता था, तो भविष्य मे चुने जाने वाले सदस्य या उपसमिति को मान्य होता था। उसके सलग्न कार्य को पूरा करना, ऋण चुकाना या सूद देना आदि सभी बातें नयी उपसमिति को मानना आवश्यक था। इस प्रकार ग्राम-सभा की कार्य-शक्ति बहुत ही आगे बढी थी। प्रजातन्त्र-शासन के प्राणभूत ग्राम-सभा का ऐसा सजीव चित्रण अन्यत्र नहीं मिलता।

राजतन्त्र :—

इसी प्रकार अभिलेखों से राजतन्त्र-प्रणाली की शासन-व्यवस्था की मोटी-मोटी रूप-रेखा भी यों समझना चाहिए—मौर्य तथा गुप्त सम्राटों के अभिलेखों से राजतन्त्र प्रणाली की शासन पद्धति के सम्बन्ध मे स्थूलरूप से यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण साम्राज्य कई प्रान्तों मे बँटा होता था, जिसको 'भुक्ति' कहते थे। भुक्ति भी जिलों मे बँटे होते थे, जिन्हें अभिलेखों मे विषय की सज्ञा दी गई है। शासन की सुव्यवस्था की दृष्टि से विषय भी 'ग्राम' सदृश छोटे भागों मे विभक्त किए जाते थे। ग्राम ही शासन की सबसे छोटी इकाई था। केन्द्र मे राजा स्वय शासन करता था और उसको परामर्श देने के लिए मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति होती थी। अशोक के प्रधान शिलालेखों में इसे 'परिषद्' कहा गया है।

अभिलेखों से यह भी पता चलता है कि राजतन्त्र के शासक भी प्रजाहित-चिन्तन में तत्पर रहते थे। अशोक ने एक लेख में—"सवे मुनि से पजा ममा अथा पजाये रच्छामि हक कित सवेन हित सुखेन हिद लौकिके पाललोकिके" इस उक्ति द्वारा अपनी प्रजा-वत्सलता का सुन्दर उदाहरण दिया है। अशोक के परवर्ती राजा भी प्रजा हित की चिन्ता करते थे। जूनागढ़ के लेख में महाक्षत्रपरुद्रदामन् के प्रजा वात्सल्य के विषय में लिखा है—"अपीडयित्वा कर, विष्टि, प्रणय, क्रियाभि पौरजानपद जन स्वस्मात् कोषात् महता त्रिगुणदृढतरविस्तारयाम सेतु विधाय सर्वतटे सुदर्शनतर कारितमिति"। जूनागढ़ के गुप्त-लेख से पता चलता है कि स्कन्दगुप्त भी पश्चिमी प्रान्त के योग्य शासक के लिए प्रजा-हित की दृष्टि से विशेष चिन्तित था। "सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन् संचिन्तयामास बहुप्रकारम्"।

इसके अतिरिक्त पाल-नरेश धर्मपाल के खालीमपुर लेख से विदित होता है कि उसके पिता गोपाल ने 'मात्स्यन्याय' को पराजित कर बंगाल में शान्ति की स्थापना की, जिसमें प्रभावित होकर जनता ने उसे पाल-वंश का शासक निर्वाचित किया। इस प्रकार अभिलेखों के विवरण से राजा के प्रजा-हित-चिन्तन तथा आदर्श राजशासन की बातों का परिज्ञान होता है।

राजकर :—

राजतन्त्र शासन के पदाधिकारियों की चर्चा हम कर चुके हैं। अभिलेखों से राजकीय कर सम्बन्धी तथ्यों का भी ज्ञान होता है। अशोक के रुम्मनदेई स्तम्भ-लेख में यह वर्णन है कि सम्राट् ने लुम्बिनी-यात्रा के प्रसंग में उसकी स्मृति में राजकीय कर को छठे भाग की जगह घटाकर आठवाँ भाग कर दिया था। ई० सन् दूसरी सदी के जूनागढ़-लेख में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि रुद्रदामन् भूमिकर तथा विष्टि अर्थात् बेगार से प्रजा को उत्पीडित नहीं करता था—"अपीडयित्वा करविष्टिप्रणयक्रियाभि"। गौतमीपुत्र शातकर्णी के नासिकलेख में सब क्षेत्र को कर-मुक्त करने की बात कही गयी है। गुप्तयुगीन अभिलेखों में भी कर शब्द का प्रयोग आया है। प्रयाग-प्रशस्ति के विजय-प्रसंग में लिखा है कि समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत के सामन्तों को पराजित कर दक्षिण भारत के शासकों से कर लेकर उन्हें मुक्त कर दिया—"सर्वकरदानाज्ञाकरण प्रणामागमन परितोषित प्रचण्डशासनस्य"। गुप्त युग के पश्चात् छठी सदी के वैग्राम दामोदरपुर तथा फरीदपुर के ताम्रपत्रों में स्पष्ट उल्लेख है कि छठा भाग ही राजकीय कर था, जिससे दानग्राही मुक्त था। पालवंशी खालीमपुर ताम्रपत्र में कर को

वसूल करनेवाला अधिकारी 'षष्ठाधिकृत' कहा गया है। निष्कर्ष यह कि दसवीं सदी तक पैदावार का छठा भाग ही राजकीय कर समझा जाता था। ताम्र-पत्रों में दानभूमि को सभी प्रकार के करों से मुक्त माना गया है। हर्षवर्धन के समय विभिन्न करों के नाम पाये जाते हैं। भूमिकर नगद या सामान के रूप में दिया जाता था। कुछ अस्थायी कर थे और कुछ चुंगी और बेगार के रूप में लिये जाते थे।

पश्चात् काल में अभिलेखों के आधार पर निम्नलिखित कर प्रचलित हो गये थे—

(१) भागकर—यह राजकीय कर था, जो पैदावार का छठा भाग था।

(२) भोगकर—यह भागकर से भिन्न किन्तु उसी का भेद विशेष था।

(३) सधान्य हिरण्य—भूमिकर का कुछ अंश, जो धान्य रूप में तथा कुछ नगद रूप में दिया जाता था।

(४) हाटक—बाजार से लिये जाने वाले कर को हाटक कहा जाता था। पालवंशी दानपत्रों में यह चुङ्गी शब्द से पुकारा जाता था।

(५) अचाट भट प्रावेश्य—इस शब्द का प्रयोग एक प्रकार के अस्थायी कर का बोध कराता है। यह कर ग्राम में पुलिस तथा सैनिकों के प्रवेश करने पर ग्रामीणों से लिया जाता था।

(६) दशापराध—वल्भीलेख में इसका प्रयोग है। यह अपराधी से अस्थायी दण्ड के रूप में वसूला जाता था।

(७) भूतवात प्रत्याय—इसकी चर्चा वलभी तथा राष्ट्रकूट के लेखों में अस्थायी कर के रूप में आयी है। भूतवात से सुरक्षित (आयात) तथा निर्यात वस्तुओं पर लगाए गये कर का बोध होता है।

(८) विष्टि—बेगार—जिस कार्य की मजदूरी न दी जाय। जो गरीब व्यक्ति अस्थायी कर नहीं दे पाता था, उसे बेगारी करनी पड़ती थी। इस प्रकार स्थायी तथा अस्थायी करों के नाम अभिलेखों में सुव्यवस्थित रूप से पाये जाते हैं, जो इतिहास के प्रशासकीय अध्याय की पूर्ति में सहायक तत्त्व हैं।

सामाजिक झलक :—

भारतीय समाज की सर्वप्रमुख संस्था को 'वर्णाश्रम' कहते थे। उसी के आधार पर हिन्दू समाज अवलम्बित है। स्मृतियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

शूद्र ये चार वर्ण आये हैं, किन्तु अभिलेखों का उद्देश्य वर्णाश्रम का वर्णन करना नहीं अपितु दान, शासन, व्यापार तथा सेवा के अवसर पर प्रसगात् ब्राह्मणादि वर्णों की चर्चा मात्र प्रतीत होता है। अशोक के तृतीय, चतुर्थ तथा ८ वें शिलालेखों मे तथा दक्षिण भारत के नरेशो के नासिक गुहालेखो में ब्राह्मणो का दानग्राही श्रेष्ठ ब्राह्मण के रूप मे उल्लख है। क्षत्रिय नाम भी युद्ध तथा अग्रहार देने के प्रसग मे आये हैं। गुप्तयुग के लेखों मे तीन वर्णों का उल्लेख है। गुप्तयुग के पश्चात् प्राय वर्णाश्रम-व्यवस्था मे थोडी कमजोरी सी आ गयी, अत एव पूर्व मध्ययुग के अभिलेखों मे शासक का कर्त्तव्य समाज की स्थिरता के लिए वर्णाश्रम की रक्षा करना हो गया। इसका संकेत गुप्त-सामन्त सक्षोभ के खोहताम्रपत्र, प्रभाकरवर्धन के बांसखेडा ताम्रपत्र, भास्कर वर्मन् के निधानपुर तथा ११ वीं सदी के सदी के राजा इन्द्रपाल के गोहाटी ताम्रपत्र से मिलता है, जिन शासकों ने शिथिल वर्णाश्रम-व्यवस्था को सुदृढ किया और जिनके प्रभाव के कारण बगाल के बौद्ध मतानुयायी पाल राजा भी वर्णाश्रम व्यवस्था को सुरक्षा मे क्रियाशील था।

ब्राह्मण—गुप्तयुग से पूर्ववर्ती ब्राह्मणो के विषय में अभिलेखो में यह उल्लेख है कि वे अपनी विद्वत्ता, शुद्ध आचरण तथा व्यावहार-कौशल के कारण चारों वर्णों में श्रेष्ठ माने जाते थे। अन्य तीनों वर्ण उनके बनाये मार्ग पर चलते थे। गुप्तकाल मे भी ब्राह्मणों का सम्मान बना रहा। गुप्तयुग के बाद ब्राह्मणो में उपजातियों तथा जीविका-साधन के विभिन्न भेदों के कारण उनका सम्मान कम हो गया। उनके स्थान मे क्षत्रिय समाज के अगुआ बन बैठे और उनके आज्ञानुसार ब्राह्मण कार्य करने लगे। यद्यपि साहित्य में पचगौड का विवरण है किन्तु अभिलेखो मे प्रधानतया कान्यकुब्ज, मैथिल तथा सरयूपारी ब्राह्मण-भेदों का उल्लेख है। छठी सदी के बाद गोत्र तथा वैदिक शाखा के आधार पर ब्राह्मणों का वर्गीकरण किया गया, जिसका उल्लेख प्रायेण दान-पत्र मे मिलता है। मालवा की प्रशस्ति मे ब्राह्मणों का स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार मिलता है—

(१) माध्यन्दिन (शुक्ल यजुर्वेद) शाखा का ब्राह्मण।
(२) आश्वलायन (ऋग्वेद) शाखा का ब्राह्मण।
(३) कौथुम (सामवेद) शाखा का ब्राह्मण।

अभिलेखों अनुसार ब्राह्मणों को षट्कर्म के अतिरिक्त अपने जीविकोपार्जन

के लिए अन्य कार्य भी ढूँढने पड़े। यथा—मध्ययुगीन-प्रशस्ति में उनके पौरोहित्य, मन्त्रित्व तथा सेनापतित्व का भी उल्लेख आया है। आपत्ति या परिस्थिति-वश वे जीविका के लिए देशान्तर भी जाते थे।

क्षत्रिय—सातवीं सदी से शासन सम्बन्धी अभिलेखों में क्षत्रियों का नाम आता है जो राजनीतिक परिस्थिति-वश समाज में अग्रणी हो गये थे। पूर्व-मध्ययुग में क्षत्रियों के लिए 'राजपूत' शब्द का प्रयोग मिलता है जिनका निवास-स्थान राजपुताना बताया गया है। 'राजपूत' की उत्पत्ति के विषय में हम विग्रहराज के अभिलेख विवेचन प्रसंग में सविस्तार विचार करेंगे। राजपूत नरेशों का अभिलेख उन्हें प्राचीन क्षत्रिय-वर्ग का वंशज सिद्ध करता है। उस युग में राजपूत भी दो वर्गों में विभक्त हो गये थे—

(१) शासक वर्ग तथा (२) साधारण क्षत्रिय वर्ग।

शासकों की श्रेणी में कुछ हूण प्रभृति विदेशी भी घुस आए थे, जिनका वैवाहिक सम्बन्ध राजघराने से हो गया था। कलचुरी-लेख में इसका संकेत है।

राजकीय अभिलेखों का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि सातवीं सदी से १२ वीं सदी तक राजकुमार को कुशल शासक बनाने के लिए समुचित शिक्षा दी जाती थी। मालवा के एक चहमान-लेख में तथा प्रतिहार-लेख में इसका उल्लेख है। सारांश यह है कि समाज में क्षत्रिय-वर्ग का शिक्षित तथा सफल शासक होने के कारण आदर था और वे समाज के रक्षक भी थे।

वैश्य—स्मृतिकारों के अनुसार वैश्य का स्थान तृतीय जाति में था और उनका काम पशु-पालन तथा कृषि था। गुप्त-युग के परवर्ती अभिलेखों में दान के प्रसंग में कृषि, कर, पशु तथा व्यापारिक चुङ्गी का वर्णन आया है। वणिक् शब्द का प्रयोग वैश्य-वर्ग के लिए प्रायः सर्वत्र लेखों में पाया जाता है, जिसका उल्लेख परमार चामुण्ड राय के लेख तथा चहमान-लेख में मिलता है। इस प्रकार यह जाति व्यापार से भी अपनी जीविका चलाती थी। वणिक्-समूह का एक वर्ग बैंक का भी काम करता था, जिसका संकेत नासिक-लेख में है। व्यापार के अनुसार वणिक श्रेणियों में विभक्त थे। स्थानीय व्यापारी घोड़े या बैलगाड़ी के माध्यम से व्यापार करते थे और विदेशों में व्यापार करने वाले सार्थवाह कहलाते थे।

शूद्र—वर्ण व्यवस्था में शूद्रों को अन्तिम स्थान मिला है तथा उसका धर्म द्विजाति मात्र की सेवा था किन्तु अभिलेखों में इनका स्थान उतना हीन नहीं

था। अशोक ने अपने धर्मलेखों में शूद्रों के साथ समुचित व्यवहार का आदेश दिया था। उस समय शूद्र अस्पृश्य नहीं माने जाते थे। सेवा-कार्य के अभाव में वे वैश्य-वृत्ति से भी अपना निर्वाह करते थे। दानपत्रों से पदाधिकारियों के साथ कायस्थ और चाण्डाल जाति का भी बोध होता है जो चतुर्वर्ण से पृथक् थे। अभिलेख के अन्त में "कायस्थेन लिखित" से व्यक्त होता है कि कायस्थ-वर्ग 'लेखकों के समूह' अर्थ में प्रयुक्त था किन्तु सातवीं सदी से जाति अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। 'ब्राह्मण चाण्डालपर्यन्तान्' इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि, शूद्र से पृथक् सबसे निम्नकोटि की चाण्डाल जाति थी।

आश्रम—अभिलेखों के अध्ययन से मानव-जीवन के ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों का ज्ञान होता है। अशोक के समय में इस आश्रम-व्यवस्था में शिथिलता तो आयी किन्तु बाद में चारों की प्रतिष्ठा की गयी। दान के अवसर पर सामाजिक संस्कारों का उल्लेख मिलता है। साथ ही बहुपत्नी-व्रत तथा सती-प्रथा का भी संकेत मिलता है। संगीत की प्रधानता के कारण गायिका-गणिका का भी उल्लेख है। मनोरञ्जन के साधन के रूप में मृगया, संगीत, द्यूत-क्रीडा तथा शतरंज के साथ राज-परिवार तथा उच्च परिवार की रमणियों में पक्षी-विनोद का भी वर्णन है।

सामाजिक उत्सव तथा आवागमन :—

राजतिलक, विवाह, विजय तथा त्योहारों के अवसर पर उत्सव-विशेष का आयोजन होता था, जिसमें मुख्य रूप से नाटक तथा संगीत का मनोहर कार्यक्रम प्रमुख स्थान लेता था। आवागमन के साधन के रूप में स्थल-यान के रूप में रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट तथा बैलगाड़ी का अधिकतर उपयोग होता था, जलयान में नाव तथा समुद्री जहाज का भी प्रयोग किया जाता था।

चरित्र चित्रण—अभिलेखों के परिशीलन से भारतीय जन-जीवन के उज्ज्वल चरित्र का भी दिग्दर्शन होता है। गुप्त-काल में कोई व्यक्ति अधार्मिक, व्यसनी, आर्त, दरिद्र तथा पीड़ित नहीं था, जिसका संकेत जूनागढ़ लेख में "दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्ड्यो वा यो भृशं न पीडितः स्यात्" इस कथन से मिलता है। राजा की चारित्रिक विशालता का परिचय प्रयाग स्तम्भ लेख से स्पष्ट मिलता है। नालन्दा ताम्र-पत्र के अनुसार ब्राह्मण दानग्राही होकर भी उच्च आदर्शों की रक्षा के लिए धन का सहर्ष त्याग करता था। भारतीय जनता

का प्रधान आदर्श सांसारिक वैभव न होकर परलोक और परोपकार साधन था। राजा बहुपत्नी-व्रती होकर भी सभी स्त्रियों के प्रति समान प्रेम तथा आदर का व्यवहार करता था। सामान्य जनता भी पवित्र जीवन का आश्रय लेकर दान, व्रत, तीर्थ और यज्ञों में विश्वास रखती थी। पूर्व-मध्ययुग के सहस्रों दान-पत्र जन-जीवन की धार्मिक भावना के द्योतक हैं। समस्त अभिलेखों से यह प्रकट होता है कि समाज में धार्मिक भावना का प्राबल्य था। व्रतों के प्रति लोगों की सतत जागरूकता तथा तीर्थ-यात्रा में उनकी आस्था उनके पवित्र-जीवन के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

धार्मिक स्थिति तथा उसकी सहिष्णुता :—

बौद्ध-मत—अभिलेखों के वर्गीकरण से ज्ञात होता है कि अधिकतर लेखों का प्रणयन धार्मिक भावना की प्रेरणा का फल है। इस दिशा में सर्व प्रथम अशोक के ही शिलालेखों को उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर अशोक ने इस धर्म को राज-धर्म के पद पर प्रतिष्ठित किया। स्तम्भों पर खुदवा कर भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी उसका प्रचार किया। धार्मिक-भावना के प्रतिपादन का प्रमुख साधन स्तम्भ-लेख हो गया। बाद में ईसवी सन् के आरम्भ में कुषाण-राजा कनिष्क ने बौद्ध-धर्म को प्रोत्साहित किया और उसकी चौथी संगीति भी बुलवायी। मथुरा के बौद्धप्रतिमा लेख से इस बात का संकेत मिलता है। गुप्त-काल में बौद्ध-मत के प्रसार का आभास सारनाथ की बौद्ध प्रतिमाओं से मिलता है। गुप्त-काल के बाद सातवीं सदी से बुद्ध के तीसरे यान वज्रयान का प्रसार उत्तर भारत में पाया जाता है। पाल-नरेशों की प्रशस्तियाँ 'नमो बुद्धाय' बुद्ध की इस प्रार्थना से प्रारम्भ होती हैं। अतः पाल-नरेशों के बौद्धमतानुयायी होने का संकेत मिलता है। इस प्रकार बौद्ध-धर्म के व्यापक प्रचार का ज्ञान अभिलेखों से प्राप्त होता है।

जैन-मत—ईसा पूर्व छठी सदी से ही महावीर ने जैन-धर्म का प्रचार किया था, जो कालान्तर में भी विकासोन्मुख रहा। अशोक के अभिलेख में 'निग्रंथ' शब्द का प्रयोग जैन-धर्म के लिए किया गया है। उदयगिरि के गुहालेखों से उड़ीसा में जैन-धर्म के प्रचार की बात सिद्ध होती है। दूसरी सदी के जूनागढ लेख में भी जैन-मत का संकेत है। ई० सन् के आरम्भ में जैनप्रतिमा की आधारशिला पर उत्कीर्ण लेख मिलते हैं। गुप्त-युग के अभिलेखों में भी जैन-

धर्म का सकेत है। पूर्व-मध्ययुग के राजपूताना के विस्तृत भूभाग मे जैन-धर्म के व्यापक प्रचार का आभास मिलता है, जिसके फलस्वरूप महावीर पार्श्वनाथ तथा शान्तिनाथ की पूजा प्रचलित थी। चन्देल राज्य के प्रधान खजुराहो नगर मे लेख तथा प्रतिमाओं के अध्ययन से जैन मत के प्रचार का ज्ञान होता है। प्रतिमाओ की आधार-शिला पर उत्कीर्ण लेख इस बात का प्रमाण है कि राज-वर्ग के अतिरिक्त जनसाधारण मे भी जैन-मत का व्यापक प्रचार था।

भागवत धर्म—मौर्य युग के बाद गुप्त-युग मे भागवत धर्म का प्राधान्य हो गया, जो वैदिक धर्म के प्रचार मे प्रधान सहायक बना तथा बौद्ध-धर्म के प्रभाव को घटा दिया। अयोध्या-लेख से यह सकेत मिलता है कि मौर्य-युग के बाद सर्वप्रथम शुङ्ग-नरेश पुष्यमित्र ने ब्राह्मण-धर्म को पुन जागृत किया और दो अश्वमेध यज्ञ भी किये। अन्य तत्कालीन राजाओं ने भी उनका अनुकरण किया। ई० सन् चौथी सदी मे गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ-लेख से उसके परम भागवत होने का स्पष्ट सकेत मिलता है और उसकी विष्णुभक्ति की चरम सीमा का प्रमाण गरुडाङ्कित आज्ञापत्र ही है। "गरुत्मदङ्क स्वविषयभुक्ति शासन याचना"। उत्तरी भारत के लेखों में वैष्णव-मत का प्रचार अधिकतर मन्दिर-निर्माण के वर्णन से ज्ञान होता है। खजुराहो का चन्देल-लेख इसकी पुष्टि मे प्रमाण है। परमार राजा भोजदेव के बेतमा ताम्र-पत्र मे विष्णु-मन्दिर के सम्मुख गरुड-ध्वज स्थापित करने का उल्लेख है।

शैव-मत—ईसा पूर्व सदियों मे वीम कदफिस के सिक्के पर शैव मत का उल्लेख है। कुषाण नरेशों द्वारा शैव मत को विशेष प्रोत्साहन मिला होगा। इसी-लिए अभिलेखों मे वह महेश्वर' पदवी से विभूषित था। गुप्त-युग के अभिलेखों से शैव-मत के प्रचुर प्रचार का परिज्ञान होता है। चन्द्रगुप्त द्वि० के उदयगिरि-लेख तथा कुमारगुप्त प्रथम के करमदण्डा लेख में शिवलिंग की पूजा का वर्णन आया है। गुप्तकाल के पश्चात् छठी सदी के शासक विष्णुवर्धन के मन्दसोर-लेख मे तथा हूण-राजा मिहिरकुल की ग्वालियर प्रशस्ति मे शिव की वन्दना रोचक शब्दों मे की गयी है। सातवी सदी मे बगाल से भी शैव-मत के प्रचार का उल्लेख पाल तथा सेनवंशी प्रशस्तियों मे मिलता है। बाद के अभिलेखों में इस मत के पाशुपत और कापालिक इन दोनो भेदो की विभक्ति का भी पता चलता है। इसके अतिरिक्त सूर्य-पूजा, शक्ति-पूजा और गणेश-पूजा का भी वर्णन यत्र-तत्र अभिलेखों मे पाया जाता है। धार्मिक कार्यों में मुख्यरूप से वैदिक

यज्ञों, मन्दिर-निर्माण, पुराने मन्दिरों का सत्कार, देवपूजन, सत्र-स्थापना, सत्संग गोष्ठी, दान, धार्मिक उत्सव, व्रत तथा तीर्थाटन का विशद विवेचन अभिलेखों में विद्यमान है।

धार्मिक सहिष्णुता—जहाँ तक एक धर्म का अन्य धर्मों के साथ सम्बन्ध-निर्वाह की बात है उसके विषय में अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि धर्मों में पारस्परिक सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में थी। अशोक से लेकर १२ वीं सदी के बंगाल नरेश तक धार्मिक सहिष्णुता की भावना से प्रेरित थे और धर्म के मामले में कट्टरपंथी नहीं थे। विभिन्न शासकीय अभिलेखों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि धर्म के मामले में यहाँ के राजे सहिष्णु थे। अशोक ने १२ वें शिलालेख में दूसरे धर्म की निन्दा का निषेध किया है। दक्षिण भारत के सातवाहन नरेशों के लेखों में एक ओर वैदिक यज्ञों का वर्णन है तो दूसरी ओर बौद्ध-संघ को गुहादान की भी चर्चा है। सातवाहन के उत्तराधिकारी इक्ष्वाकु-नरेश ने वैदिक यज्ञ कर्ता होकर भी बौद्ध कन्या से विवाह किया था। गुप्त-नरेशों का भी यही हाल था। गुप्त-नरेश परम वैष्णव होकर भी शैव तथा जैनमतानुयायी अधिकारियों की नियुक्ति करने में हिचकते नहीं थे। मध्ययुग के पालनरेश परम सौगत होकर भी ब्राह्मण-देवताओं के लिए दान देते थे। नारायण पाल ने सैकड़ों शिव-मन्दिरों का निर्माण करा कर पाशुपत मतानुयायी आचार्य को मन्दिर का पदाधिकारी बनाया था। खजुराहो का विष्णु, शैव तथा जैनमन्दिर धार्मिक सहिष्णुता के जीते जागते नमूने हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय नरेशों की धार्मिक सहिष्णुता उच्च कोटि की थी, जिसका उदाहरण अन्यत्र सम्भव नहीं।

आर्थिक स्वरूप :—

प्राचीन भारत की आध्यात्मिक उन्नति के साथ ही अभिलेखों से भौतिक उन्नति का भी विस्तृत ज्ञान होता है। तत्कालीन अभिलेखों में सामाजिक विषयों पर चर्चा करते समय आर्थिक-स्वरूप का दिग्दर्शन भी किया जा सकता है। जनता द्वारा दान देने की प्रणाली से अभिलेख-कालीन जनता के वैभवपूर्ण सुखी जीवन का अन्दाज लगाया जा सकता है। धन तथा भूमिदान-प्रसंग से जन-जीवन की सन्तोष-प्रद आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है। जूनागढ़-अभिलेख में यह वर्णन है कि प्रजा-वर्ग का कोई भी सदस्य दुखी नहीं था। दानपत्रों का विवरण

आर्थिक सुदृढ़ता के प्रबल प्रमाण हैं। कृषि-प्रधान देश होने के कारण प्रशस्तियों में सभी प्रकार के अन्न तथा फलों का वर्णन मिलता है। मध्ययुग के आरम्भ से दान सम्बन्धी आज्ञा-पत्रों में भोजन-सामग्रियों का तथा नालन्दा ताम्र-पत्र में "सम्यग् बहुघृतबहुदधिमि व्यञ्जनैं युक्तमन्नम्" इस कथन से समुन्नत भोजन-स्तर का ज्ञान होता है। पालवंशी दानपत्रों में नीची भूमि को उत्तमकोटि की दानभूमि माना गया है जो वर्षा होने पर उर्वर हो सके। निष्कर्ष यह कि दानकर्ता कृषियोग्य भूमि को ही दान में देता था।

भूमि की सिंचाई की ओर राजा का विशेष ध्यान रहता था और सिंचाई-साधन में झील, नहर, तालाब तथा बाँध के निर्माण का उल्लेख बहुधा अभिलेखों में पाया जाता है। इस सम्बन्ध में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा निर्माण कराया गया और रुद्रदामन् तथा स्कन्दगुप्त द्वारा संस्कार कराया गया सुदर्शन झील का वर्णन पर्याप्त है। दक्षिण के सातवाहन नरेश पुलुमावी के राज्य-काल में सिंचाई के लिए तालाब बनवाने का उल्लेख लेखों में आया है। सप्तम सदी के लेखों में इसकी विशेष चर्चा है। गुप्त-युग तक राजाओं का ध्यान सिंचाई के साधन के रूप में नहर निर्माण की ओर था। उत्तर-प्रदेश की देवल-प्रशस्ति में नहर-निर्माण का सुन्दर वर्णन है। इसके साथ ही यत्र-तत्र कुओं, रहट तथा मोट से भी सिंचाई का वर्णन है। यह तो कृषि व्यवस्था की बात हुई।

व्यापारिक-संस्थाओं को राजाज्ञा के कारण मन्दिरों में देव-पूजन के हेतु 'कर' देने की बात है। व्यापार सम्बन्धी समस्त कार्यों का संचालन एक संस्था द्वारा होता था, जिसे अभिलेखों में 'श्रेणी' कहा गया है। यह संस्था प्रजातन्त्र शैली पर कार्य करती थी और देश की बहुत कुछ आर्थिक नीति श्रेणी के हाथों में ही थी। सातवाहन तथा क्षत्रिय वंशी अभिलेखों में संगठित शिल्प-श्रेणी का वर्णन है। गुप्त-काल में भी औद्योगिक उन्नति का श्रेय तत्कालीन श्रेणियों तथा निगमों को था, जिसका उदाहरण कुमारगुप्त प्रथम के मन्दसोर लेख में रेशमी बुनकर श्रेणी का उल्लेख है। नासिक तथा मथुरा लेख में श्रेणी तथा निगम के बैंक-कार्य का भी पता लगता है। अत: श्रेणी के निकाय धन-शक्ति सम्पन्न थे, जिससे उन बैंकों में जनता अपनी धनराशि विश्वासपूर्वक सुरक्षित रखती थी। इतना ही नहीं, बंगाल के सौगरा लेख में राज्य के अन्नभंडार में अकाल-पीड़ित प्रजा को अन्न बाँटने तथा जनता को राज्य की ओर से ऋण देने का वर्णन है। राज-कर से राज्य-कोष की पूर्णता का उल्लेख तो सर्वत्र मिलता ही है। दक्षिण भारत के

घंटशाला लेख में महानाविक सिवक का उल्लेख है, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यहाँ का व्यापार क्षेत्र जहाजों के माध्यम से विदेश तक भी विस्तृत था। जावा के राजा की प्रार्थना पर पाल-शासक ने जो पाँच गाँव दान में दिया था उससे विश्वप्रेम की झलक के साथ ही अभिलेखों से निम्न-स्तर के नागरिक आर्थिक स्वरूप का परिज्ञान होता है।

अभिलेखों में साहित्य-चर्चा :—

यद्यपि प्राचीन समय में अभिलेखों को उत्कीर्ण कराने का उद्देश्य साहित्यिक न होकर कुछ और ही था तथापि उन उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन से इतना तो स्पष्ट परिलक्षित होता है कि प्रशस्तिकार परम कोटि का विद्वान् और साहित्य-शास्त्र की परम्परा से पूर्णतया अवगत होता था, जिसकी प्रशस्तियों में साहित्य-सौन्दर्य की भी मनोरम झाँकी मिल जाती है। प्रशस्तियाँ प्रायः प्राकृत या संस्कृत भाषा में लिखी जाती थी। यों तो संस्कृत में लिखने की प्रथा प्राचीन काल से ही विद्यमान थी किन्तु रुद्रदामन् के जूनागढ़लेख से पूर्व संस्कृत भाषा का कोई भी अभिलेख उपलब्ध नहीं है इसलिए संस्कृत अभिलेखों में यह लेख सर्वप्रथम माना जाता है। इस अभिलेख का लेखक एक विद्वान् साहित्यिक नजर आता है, जिसने इस छोटे से अभिलेख में गद्य-पद्य के वैशिष्ट्य का सुन्दर नमूना पेश किया है, जिसका उल्लेख दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है। लेख में राजा के लिए "स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द समयोदारालङ्कृत गद्य-पद्य" यह विशेषण प्रयुक्त है, जो काव्यादर्श में वर्णित—"श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता, अर्थ-व्यक्तिरुदारत्वमोज- कान्तिसमाधयः" इस वैदर्भी शैली की विशेषता से समता रखता है। संस्कृत के अलंकार ग्रंथों में जो काव्य की परिभाषा लिखी गयी है उसी तरह की बातें उस अभिलेख में पायी जाती हैं। सम्पूर्ण लेख का परिशीलन यह बताता है कि लेखक काव्य-शैली में लिखने का अभ्यासी कवि था। संस्कृत-साहित्य का प्रथम चरण होने के कारण यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि साधारण जनता भी संस्कृत से परिचित थी। अन्यथा राजकीय लेख आलंकारिक भाषा में नहीं लिखा जाता, क्योंकि रुद्रदामन् के अन्य मुद्रा-लेख प्राकृत भाषा में मिलते हैं। इतना ही नहीं, दक्षिण तथा पश्चिम भारत के समस्त लेख प्राकृत भाषा में लिखे गये थे। तात्पर्य यह है कि ई० सन् १५० से पूर्व संस्कृतमय अभिलेख उपलब्ध नहीं हैं। तीसरी सदी से समस्त भारत में संस्कृत भाषा में

अभिलेख खुदवाने का प्रचार बढा, जिनके अध्ययन से अनेक साहित्यिक तथ्यों का उद्घाटन होता है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति गद्य मिश्रित भाषा में लिखी गयी है, जो लघु-चम्पू-काव्य का सुन्दर उदाहरण है। साहित्य दर्पण में "गद्यपद्यमय काव्य चम्पूरित्यभिधीयते" यह चम्पूकाव्य की परिभाषा है। प्रयाग प्रशस्ति "ओज समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्" इस साहित्यिक गद्यवैशिष्ट्य का शोभन निदर्शन है। इसमे इतने समस्त पद हैं कि लेखक का समास-गद्य-प्रेम स्वय प्रकट हो जाता है। इस अभिलेख की एक विचित्र विशेषता यह है कि इसके लेखक हरिषेण जैसे विद्वान् प्रशस्तिकार का नाम अन्यत्र नही मिलता। चम्पू काव्य-शैली के उन्नायक इस कवि की अन्य कृति उपलब्ध नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि हरिषण जैसा सफल साहित्यिक मर्मज्ञ भी सन्धि-विग्रहिक, कुमारामात्य तथा महादण्डनायक जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण राजकीय पद को अलकृत करता था। यद्यपि गुप्त-युग का अधिकतर लेख किसी छन्दविशेष को लेकर लिखा जाता था, किन्तु कुमारगुप्त का मन्दसोर लेख तथा स्कन्दगुप्त का जूनागढ अभिलेख अनेक कोमल एव सरस छन्दो मे लिखा गया है। हरिषेण की ही भाँति मन्दसोर-प्रशस्ति के लेखक वत्सभट्टि का इतिहास भी अन्य साधनों से अज्ञात है।

अत यह कहा जा सकता है कि अभिलेख ऐसे विद्वान् प्रशस्तिकार का भी नाम बतलाता है जो अन्य ग्रन्थों मे उपलब्ध नही है। इस प्रकार प्रशस्तियों से सस्कृत-साहित्य के इतिहास की जानकारी मे भी सहायता मिलती है। रुद्रदामन् और समुद्रगुप्त के अभिलेख सस्कृत गद्य-साहित्य के इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण अध्याय को पूर्ण करते हैं। गुप्तकालीन जिन कवियो की कीर्ति केवल अभिलेखो में सुरक्षित है, उनमें सबसे योग्य विद्वान् कवि वत्सभट्टि हैं। उनके द्वारा रचित मन्दसोर-अभिलेख साहित्यिक-सौन्दर्य की दृष्टि से बेजोड है। इस मे दशपुर में सूर्य-मन्दिर का भव्य वर्णन है। सस्कृत-साहित्य के इतिहास मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा ललित किन्तु अर्थ-गौरव से ओतप्रोत है। पद्य सरस वैदर्भी शैली में लिखे गये हैं। अलकारो का सुन्दर सन्निवेश चार चाँद लगा देता है। काव्य के इन्हीं गुणो के कारण वत्सभट्टि महाकवियो की पक्ति में आदर से बैठाये जाते हैं। इन पूर्वोक्त अभिलेखों का साहित्यिक वैशिष्ट्य विवेचन आगे उन-उन अभिलेखों के प्रसग मे किया जायेगा। इस युग के कवियो मे वासुल का भी नाम अमर हो गया है, जिसने मालव-नरेश यशोधर्मन् की मन्दसोर-

प्रशस्ति लिख कर अपनी काव्य-निपुणता का परिचय दिया है। ईशान वर्मा की हरहा-प्रशस्ति के लेखक रवि शान्ति का नाम भी गौरव से लिया जाता है, किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि यह नाम भी अन्यत्र नहीं मिलता। चालुक्य-नरेश पुलकेशी द्वितीय का ऐहोल-अभिलेख रविकीर्ति की काव्य शैली का अनुपम उदाहरण है। अभिलेख के ३७ वें पद्य में रविकीर्ति "कविताश्रित-कालिदासभारविकीर्ति"—इस कथन से कालिदास तथा भारवि के टक्कर के कवि हो गये थे। इस प्रकार प्रशस्तियों के अन्त में जिन कवियों के नाम आते हैं उनमें से प्रधान कवियों का निर्देश ऊपर किया गया है। यदि अभिलेखों का अध्ययन नहीं होता तो इनकी कीर्ति का पता लगना असम्भव था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है संस्कृत-साहित्य का इतिहास इन अभिलेखों के बिना अधूरा ही रह जाता।

अभिलेखों में साहित्यिक पद्यों के अतिरिक्त कुछ नाटकों की भी चर्चा आयी है। अजमेर के शिलाखण्ड पर सोमदेव-रचित 'ललित विग्रह नाटक' उत्कीर्ण मिला है। उसमें चाहमान-नरेश विग्रहराज का यशोगान है। धारा के समीप प्रस्तर पर हरकेलि नाटक खुदा हुआ मिला है, जिसका लेखक विग्रहराज था। धारा क एक अन्य शिलालेख में विष्णु के कूर्मावतार का वर्णन है, जो प्राकृत भाषा में है। इस प्रकार प्रशस्तियों का परिशीलन संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण ऐतिह्य पर प्रकाश डालता है।

अभिलेखों में साहित्य समीक्षा की दृष्टि से चन्देल नरेश के खजुराहो-लेख का उद्धरण प्रशस्तिकारों की काव्यमय शैली तथा साहित्यिक सूझ की ओर पाठक का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करता है। पूर्व मध्ययुग में संस्कृत-साहित्य की उन्नति चरम सीमा पर थी। जिस गति से विविध विषयों पर संस्कृत में ग्रन्थ रचना हुई, उसी गति से अभिलेखों की उत्कीर्णता भी समुन्नत रही। काव्य-शैली, अलंकार प्राचुर्य, छन्दो-बाहुल्य, श्लेषाधिक्य एवं रस-प्रावण्य प्रशस्तियों के प्राणभूत तत्त्व थे।

शिक्षण-संस्था :—

अभिलेखों के अनुशीलन से यह सिद्ध होता है कि भारत में शिक्षण-संस्थाओं का जन्म कुछ बाद में हुआ होगा। प्रारम्भ में अध्यापक-वृन्द व्यक्तिगत रूप से ही विद्या-दान करते थे। प्राचीन गुरुकुल, तक्षशिला और काशी के गुरुगृह इस

शिक्षा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। ई० सन् दूसरी सदी के नासिक लेखों में शिक्षार्थी-भिक्षुओं के भोजन-वस्त्रादि के निमित्त अग्रहार का उल्लेख है। बौद्ध-ग्रन्थ महावग्ग से यह विदित होता है कि शिक्षा कार्य बाद में गुहाओं में चलने लगा। उत्तर समस्त भारत में शिक्षा-केन्द्रों की व्यवस्था होने लगी। तक्षशिला, काशी, पाटलिपुत्र, कन्नौज, मिथिला तथा धारा का नाम शिक्षा-केन्द्रों में आदर से लिया जाता था। बौद्ध-विहार तथा हिन्दू-मन्दिरों में शिक्षा-संस्थाओं का कार्य सम्पन्न होने लगा। अत एव मठ-मन्दिरों को अधिकाधिक दान मिलने लगा। तक्षशिला के लेखों से यह ज्ञात होता है कि वहाँ सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। गान्धार-कला की उन्नति से यह अनुमानित है कि तक्षण-कला की शिक्षा भी मिलती थी। तक्षशिला सुव्यवस्थित तथा संगठित शिक्षा-केन्द्रों में अपना प्रमुख स्थान रखता था।

तक्षशिला की अपेक्षा शिक्षा-केन्द्रों में काशी का स्थान ऊँचा था। ईसवी सन् पूर्व से ही यह नगर भारतीय संस्कृति तथा शिक्षा का केन्द्र था। शिक्षा-केन्द्रों के रूप में काशी की प्रसिद्धि सदियों तक अक्षुण्ण रही। वैदिक-युग से लेकर बौद्ध-युग तक इसकी शैक्षणिक स्थिति लगभग एक सी बनी रही। इसीलिए बुद्ध ने अपने प्रथम धर्म-प्रवचन का उपयुक्त क्षेत्र काशी (सारनाथ) को चुना। अशोक के समय से ही सारनाथ की प्रधानता हो चली और मौर्य-युग के बाद यह एक प्रसिद्ध बौद्ध-शिक्षा-केन्द्र बन गया। यहाँ पर शिक्षा कार्य १२ वीं सदी तक चलता रहा और यही कारण है कि गहड़वाल राजा गोविन्द चन्द्र की धर्मपत्नी कुमारी देवी के विहार-दान का विवरण सारनाथ-अभिलेखों में मिलता है। सारनाथ-शैली की बुद्ध प्रतिमा बौद्ध-कला की अनुपम उपलब्धि है, जिससे साहित्यिक एवं शैक्षणिक कलात्मक-प्रगति का आभास मिलता है। आज भी काशी संस्कृत-विद्या के प्रधान केन्द्र के साथ ही भारत की सांस्कृतिक राजधानी मानी जाती है।

इसके अतिरिक्त, पाटलिपुत्र के समीप नालन्दा का विहार अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षण संस्था के रूप में प्रसिद्ध था। वहाँ पर भारतीय छात्रों के सिवा विदेशी जिज्ञासु छात्र भी भारतीय-संस्कृति का अध्ययन करने आते थे। पाँचवीं सदी में यह विद्या का प्रधान केन्द्र बन बैठा। गुप्त तथा पाल नरेशों ने इस विहार की उन्नति में अपूर्व योग दिया। प्राचीन समय से ११ वीं सदी तक विहार-निर्माण-कार्य अविरल गति से चलता रहा। नालन्दा की आधुनिक खुदाई ने उसे एक

विशाल विश्वविद्यालय के रूप में उपस्थित किया है, जिसमे तीन सौ छोटे-छोटे कमरे तथा सात विशाल व्याख्यान मन्दिर भी थे। पूर्व-मध्ययुग के एक अभिलेख मे विहार के गगन-चुम्बी शिखर का वर्णन मिलता है। ताम्र-पत्र के आधार पर जावा के राजा द्वारा निर्मित वहाँ के दो विहारों मे निवास करने वाले भिक्षुओं के भोजनादि के प्रबन्ध के लिए देवालय ने पाँच गाँव दान मे दिया था, जिससे उसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का परिचय मिलता है। इसीलिए चीनी यात्री ह्वेनसाँग तथा इत्सिंग वर्षों तक नालन्दा विहार मे शिक्षा ग्रहण करते रहे। काठियावाड में वलभी भी प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था। वहाँ सुयोग्य स्नातक उच्च राजकीय पद पर नियुक्त होते थे। दक्षिण भारत के राष्ट्रकूट राजा के मन्त्री नारायण ने सलोत्गी (बीजापुर) मे एक देवालय का निर्माण कराया था, जो १२ वीं सदी मे वैदिक शिक्षा का केन्द्र बन गया। वहाँ की प्रशस्ति मे छात्रों के भोजन, दीपक तथा आवास के लिये ५०० निर्वतन भूमि दान में दी गयी थी। अन्य लेखो से पता चलता है कि दक्षिण मे कई विद्यापीठ राजकीय सहायता से चलते थे और प्रधानतया देवालय ही शिक्षा के केन्द्र हो गए थे। १२ वीं सदी मे दक्षिण अरकाट जिले में एन्नायिरम् विद्यापीठ तथा तिरुमुक्कूडल मे व्यंकटेश पेरूमल देवालय महत्त्वपूर्ण शिक्षण सस्था के रूप मे प्रसिद्ध थे। इस प्रकार प्राचीन अभिलेखो का अध्ययन शिक्षा-केन्द्रों, छात्रावास, भोजन-वस्त्र, पुस्तक और औषधादि विषयों के समुचित प्रबन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

शिक्षा के विभिन्न विषय :—

प्राचीन अभिलेखों मे अध्ययन तथा अध्यापन का सीधा सम्बन्ध नहीं मिलता किन्तु दान के पात्र सम्बन्धी वार्ता में दानग्राही की विविध विषयक विद्वत्ता का वर्णन आया है। मौर्य-युग मे प्रधानतया बौद्ध-धर्म का शिक्षा के विषय में बोल-बाला था। तदुत्तरवर्ती लेखो में विधिवत् यज्ञ-समाप्ति के उल्लेख से समाज में वैदिक शिक्षा प्रचार की बात सिद्ध होती है। पूर्व मध्य-युग के अभिलेखों का अनुशीलन वेद वेदाग के अतिरिक्त दर्शन, उपवेद तथा इतिहास के पठन-पाठन को सिद्ध करता है। साथ ही ज्योतिष तथा धर्मशास्त्र का भी उल्लेख है, जिन विषयों के अध्ययन के बाद लोग राजकीय पदों पर प्रतिष्ठित होते थे। इसलिए वेदांग (शिक्षा, निरुक्त, छन्द, व्याकरण, कल्प तथा ज्योतिष) का अध्ययन प्रधान हो गया। समस्त अभिलेखों का परिशीलन यह बतलाता है कि अधिकतर

ब्राह्मण ऋग्वेद, यजुर्वेद, तथा सामवेद इन तीन वेदों की ही शिक्षा पाते थे। वेदांग में भी व्याकरण और ज्योतिष का अध्ययन प्रधान हो गया था। अध्ययन के अन्य विषयों में षड्दर्शन का भी अध्ययन अध्यापन होता था। अभिलेखों में प्रत्येक दर्शन का नाम पृथक्-पृथक् रूप से आया है। रीवाँ, पाल तथा मुंगेर के लेखों में दानग्राही ब्राह्मण को मीमांसा, तर्क तथा वेदान्त का पण्डित माना गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि षड्दर्शन में भी न्याय, मीमांसा तथा वेदान्त का अध्ययन अधिक प्रचलित था। उपवेदों में—गान्धर्व वेद, आयुर्वेद तथा धनुर्वेद की चर्चा छिटपुट रूप में मिलती है। आयुर्वेद की शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। धनुर्वेद की शिक्षा सम्भवतः राजकुमारों तक ही सीमित थी, किन्तु साधारण जनता की भी रुचि इस ओर थी। प्रयाग-प्रशस्ति में परशु-शर-शंकु प्रसासितोमर प्रभृति शस्त्रास्त्रों का उल्लेख है। गान्धर्व विद्या का विशेष उत्कर्ष गुप्त-काल में हुआ था। प्रयाग स्तम्भ-लेख में समुद्रगुप्त गान्धर्व विद्या में नारद और तुम्बुरु को लज्जित करने वाला कहा गया है। कुमारगुप्त के मन्दसोर-अभिलेख के अनुसार श्रेणी के लोग अन्य विद्याओं के साथ ही गान्धर्व एवं धनुर्विद्या में भी पारंगत थे। अभिलेखों के अध्ययन से चार प्रकार की हस्तकला का भी ज्ञान होता है। ये चार कलाएँ निम्नलिखित हैं—(१) वास्तुकला (Architecture) (२) तक्षणकला (Sculpture) (३) ढालना (Casting) (४) तथा खोदना (Engraving)।

प्राचीन समय के अनगिनत मन्दिर, स्तूप तथा वेदिका वास्तुकला के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इन पर खुदे लेखों के अन्त में कलाकार का नाम भी अंकित है। राजपुताना तथा हर्ष-शिलालेख में शिल्पियों का उल्लेख है।

अभिलेखों में प्रयुक्त भाषाएँ :—

पाली—प्राचीन समय में बोलचाल की भाषा को ही अभिलेखों में स्थान दिया जाता था, ऐसा अनुमान है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम पालि भाषा का नाम आता है। इसी भाषा को बौद्ध धर्म-ग्रन्थ तथा अशोक के अभिलेखों की भाषा मानते हैं। आज से २५०० वर्ष पहले मगध की बोलचाल की भाषा को मागधी कहा जाता था। बुद्ध भगवान् ने इसी जन-भाषा के माध्यम से अपने उपदेशों का प्रचार किया और अशोक ने उसे धर्म-लेखों में स्थान दिया। अशोक के बाद मागधी इस नाम की जगह 'पालि' शब्द का प्रयोग आता है। यद्यपि पालि

भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में विवाद है, जो कि भाषा-विज्ञान का विषय है और जिसका विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है, तथापि हमें यह देखना है कि इस भाषा का प्रयोग, जो कि पहले मागधी इस नाम से प्रसिद्ध था, अभिलेखों में विशेष कर अशोक के अभिलेखों में पाया जाता है।

प्राकृत—अशोक के बाद दक्षिण भारत के सातवाहन-नरेशों के लेखों में प्राकृत भाषा का प्रयोग मिलता है। नासिक, कन्हेरी तथा कार्ले की प्रशस्तियाँ प्राकृत में हैं। संस्कृत के बाद ही प्राकृत का प्रचलन अभिलेखों में हुआ, जो स्थान तथा काल की विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहा। यह भी जनसाधारण की बोल-चाल की ही भाषा थी। नहपान कालीन सभी लेख तथा सभी मुद्रा लेख प्राकृत में ही हैं। उत्तर पश्चिम भारत में अशोक के दोनों—शहबाज गढ़ी तथा मानसेरा लेख प्राकृत भाषा में ही उत्कीर्ण हुए थे। उसके बाद भारत में यूनानी राजाओं ने विदेशी होकर भी प्राकृत भाषा को ही अपनाया। मिलिन्द का बिजनौर-लेख तथा सभी शासकों के खरोष्ठी में मुद्रालेख प्राकृत में हैं। कुषाण-राजा वीम कदफिस तथा कनिष्क-समूह के शासकों के लेख प्राकृत में हैं। प्रथम शताब्दी से संस्कृत का भी प्रचार हो चला था, अतः कनिष्क के लेख संस्कृत से प्रभावित नजर आते हैं। लखनऊ-संग्रहालय के जैन प्रतिमा लेख तथा वासुदेव का मथुरा प्रतिमा-लेख संस्कृत-मिश्रित प्राकृत भाषा में निबद्ध है।

संस्कृत—ऊपर यह कहा गया है कि प्रथम शताब्दी से ही अभिलेखों में संस्कृत भाषा का प्रचार हो चला था, अतः जूनागढ़-शिलालेख संस्कृत में ही है। उसके बाद गुप्तों का प्रयाग और मन्दसोर लेख भी संस्कृत में ही उपलब्ध हैं। दक्षिण में वाकाटक, राष्ट्रकूट तथा चोलवंशी लेख संस्कृत में पाए गये हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि दूसरी सदी से १२ वीं सदी तक अभिलेखों की भाषा प्रधानतया संस्कृत ही थी। गुप्तकालीन मुद्रा-लेख भी छन्दोबद्ध मिले हैं। इससे स्पष्ट है कि साधारण जनता संस्कृत से अनभिज्ञ नहीं थी। इस प्रकार विहङ्गम-दृष्टि से भाषा ज्ञान भी हो जाता है।

तिथियाँ तथा संवत् :—

प्राचीन अभिलेखों का अध्ययन यह बतलाता है कि प्रशस्तिकार अभिलेखों को उत्कीर्ण समय उनमें तिथियों का उल्लेख अवश्य करते थे। भारत के विभिन्न

से इतिहास निर्माण मे अभिलेखा से पर्याप्त सहायता मिलती है। उनमे तिथियो का उल्लेख दो प्रकार से मिलता है—पहला राज्य वर्ष का उल्लेख तथा दूसरा किसी सवत् से सम्बद्ध का उल्लेख। अशोक के धर्म-लखो मे अभिषेक के आठवें वर्ष, तेरहवें वर्ष, छब्बीसवें वर्ष तथा २७ वें वर्ष का उल्लेख है। मौर्यों के उत्तराधिकारी सातवाहन के लेखा मे गौतमी-पुत्र शातकर्णी का अठारहव तथा चौबीसवें वर्ष का उल्लेख इसी प्रकार मध्ययुग के पालवशी अभिलेखो म शासक के राज्य वर्ष के उल्लेख का प्रमाण है। इन तिथियो का किसी सवत् विशेष सम्बन्ध नहीं है। १२०७५

प्राचीन भारत म दूसरे प्रकार के अभिलेखा मे शासका की तिथि किसी न किसी सवत् से अवश्य सम्बद्ध है। अभिलेखो के अध्ययन से प्रधानतया विक्रम-सवत्, शकसवत्, गुप्तसवत् और हर्षसवत् का पता चलता है। इनमे विक्रम, गुप्त तथा हर्ष-सवत् भारतीय राजाओ द्वारा तथा शकसवत् विदेशी शक-आक्रामक द्वारा प्रचलित किया गया था। ईसवी सन् के आरम्भ से शक सवत् का प्रारम्भ हुआ जिसका सम्बन्ध कुषाण नरेशों के अभिलेखों से स्थापित किया गया। कनिष्क से लेकर वासुदेव तक के लेख एक क्रम से ३ से ४० तिथि से युक्त हैं। नहपान का जूनागढ़-लेख तथा रुद्रदामन् का जूनागढ लेख क्रमश ४६ वें तथा ७२ वें वर्ष मे लिखा गया था। इन सब का सम्बन्ध उसी शकसवत् से निश्चित किया गया है। गुप्त वश के लेखों का अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वे लेख गुप्त-वश से सम्बद्ध थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा-लेख की तिथि ८२ तथा कुमारगुप्त प्रथम के करमदण्डा-लेख में ११७ तिथि उल्लिखित हैं। मनु-कुमार प्रतिमा-लेख मे तिथि ११९ सुदी है जो उसके पुत्र स्कन्दगुप्त की जूनागढ प्रशस्ति मे १३६, १३७, १३८ इन तिथियो का उल्लेख है। द्वितीय चन्द्रगुप्त का साँची लेख ९३ वर्ष मे, इन्दौर ताम्रपत्र १४६ वर्ष मे वैन्यगुप्त का गुणैधर ताम्रपत्र १८८ वर्ष मे तथा भानुगुप्त का एरण स्तम्भ-लेख १९२ वर्ष मे खोदे गये थे। इन तिथियों को राज-वर्ष न मानकर गुप्त-सवत् से सम्बन्धित माना गया है। हर्षवर्धन के ताम्रपत्र की तिथियाँ हर्ष सवत् से सम्बन्धित हैं और कुछ अन्य तिथियाँ भी। यहाँ तक कि नेपाल के लेख भी हर्ष-सवत् से ही सम्बद्ध हैं। अत अभिलेखों से इतिहास के विवादग्रस्त तिथियों तथा सवतों का भी निर्णय करने में विशेष सहायता मिल जाती है।

अभिलेख लिखने के आधार, स्थान तथा अवसर :—

आधार—प्राचीनकाल में राज्याश्रित कवियों को राजाओं की प्रशस्ति अथवा किसी महत्त्वपूर्ण घटना के उल्लेख के लिए लेखों के आधार की आवश्यकता पड़ी। उस समय कागज की क्या बात भोजपत्र या तालपत्र भी आसानी से उपलब्ध नहीं थे। विद्या कण्ठगता थी, अतएव उसके लिखने की जरूरत ही नहीं होती थी किन्तु प्रशस्तियों और मुख्य घटनाओं के प्रचारार्थ उन्हें उत्कीर्ण कराना आवश्यक था। अतः ईसापूर्व सदियों में सर्वप्रथम प्रस्तर-खण्ड और तत्पश्चात् धातुओं को आधार बनाकर लेखों को उत्कीर्ण कराना प्रारम्भ हुआ। साथ ही अन्य उपयोगी वस्तुओं को भी लेख का आधार बनाया गया किन्तु उन सब में प्रस्तर-खण्ड को स्थायी मान कर उसे ही विशेष स्थान मिला। अभिलेखों के आधाररूप में प्रधानतया शिलाखण्ड, स्तम्भ प्रतिमा, स्तूप, अवशेषपात्र गुफा, ताम्रपट्टिका, सिक्के, मुहरें, वेदिका, आयागपट्ट, ईंट तथा मृत्तिका-पात्रों का उपयोग होने लगा।

अभिलेखों के लिए शिलाखण्ड का उपयोग सर्वप्रथम सम्राट् अशोक ने धर्म-लेखों को खुदवाने में किया। उत्तर मौर्यकाल में पुष्यमित्र शुंग का अयोध्या शिलालेख उसके जीवन चरित्र पर प्रकाश डालता है। कुषाण-नरेश तथा शकक्षत्रप रुद्रदामन् ने जूनागढ लेख में शिलाखण्डों का प्रयोग किया था। गुप्तवंशी [illegible] में सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने प्रशस्ति-अंकन के लिए शिलाखण्ड को आधार माना। उसी का अनुकरण उनके परवर्ती चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त—आदि राजाओं ने किया।

शिलाखंड के बाद प्रस्तर का दूसरा रूप स्तम्भ भी अभिलेख का आधार बना। इसका प्रचलन भी ईसा पूर्व सदियों में ही हो चुका था। जहाँ पर शिलाखंड उपलब्ध नहीं थे वहाँ पर स्तम्भों पर ही प्रशस्तियाँ खुदवायी गयीं। प्रस्तर-स्तम्भ का उपयोग सम्राट् अशोक ने तथा गुप्त-नरेश समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त ने किया था। चौदह शिलालेखों के साथ अशोक के सात स्तम्भ-लेख, समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तम्भ-लेख तथा स्कन्दगुप्त के भीतरी स्तम्भ-लेख इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। प्रस्तर-स्तम्भ के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय ने लौहस्तम्भ का भी उपयोग किया था, जिसका प्रमाण दिल्ली के निकटवर्ती मेहरौली लौह-स्तम्भ लेख है।

छठी सदी के यशोधर्मन् के मन्दसोर-लेख में भी स्तम्भ का ही प्रयोग किया गया है। भागवत धर्म से बौद्ध-धर्म के प्रभावित होने के कारण महायान शाखा में भक्ति भाव से बुद्ध-मूर्ति के पूजन का प्रचार बढ़ा और प्रस्तर के तीसरे रूप प्रतिमा तथा उसकी आधार-शिला पर लेख खुदवाए गये। ईसवी सन् प्रथम सदी में बोधगया की विशाल बुद्ध-मूर्ति तथा मथुरा की प्रतिमाओं के आधार-शिला पर लेख उत्कीर्ण हुए। गुप्त-शासकों के प्रतिमा-लेख भी मिले हैं—मनु-कुमार की बौद्ध-प्रतिमा, द्वितीय कुमारगुप्त तथा आदित्यसेन की बुद्ध तथा सूर्य-मूर्ति की आधार शिला पर लेख खुदे मिले हैं। इसके सिवा मध्यप्रदेश की एरण-प्रतिमा जो कि वराह भगवान् की मूर्ति है, उसमें हूण-राजा तोरमाण का यशोगान अंकित है।

चीनी यात्रियों के उल्लेख से अशोक द्वारा स्तूप बनवाने का निर्देश मिलता है। किसी पात्र में फूल रखकर उस पर अण्डाकार या अर्धवृत्ताकार ढाँचा तैयार किया जाता था, उसे ही स्तूप कहा जाता था, जिस पर लेख लिखे जाते थे। भरहुत, अमरावती तथा साँची की स्तूप-वेष्टनी इसके उदाहरण हैं।

स्तूप के भीतर फूल (अवशेष) सोने या कीमती पत्थर के पात्र में रखा जाता था और उस पुष्प-पात्र (अवशेष-पात्र) को प्रस्तर के बक्से में रखा जाता था। कभी-कभी उस प्रस्तर या अवशेष-पात्र के ढक्कन पर भी लेख उपलब्ध होते हैं। उन्हें ही अवशेष-पात्र कहते थे। ऐसे पात्रों पर उपलब्ध-लेख में पीपरवा (बस्ती जिला) का पात्र-लेख सबसे प्राचीन है। मथुरा से भी अवशेष-पात्र मिले हैं, जिनपर लेख उत्कीर्ण हैं। बौद्ध-धर्म के अभ्युदय के कारण भिक्षुओं का नगर के निकटवर्ती पर्वतीय गुफाओं में रहने की प्रवृत्ति से गुफा-लेख का प्रारम्भ माना जाता है। पश्चिमी भारत में बौद्धगुफाओं की अधिकता थी, जिनमें नासिक, एलोरा, अजन्ता भाजा, कार्ले, कन्हेरी आदि गुफाओं में भिक्षुओं का निवास था। उड़ीसा में हाथी गुफालेख में कलिंग राजाओं की जीवन-घटनाओं का संकेत है। गुप्त-काल में गुहा-निर्माण की कला उन्नत दशा में थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि-गुहा लेख अत्यन्त प्रसिद्ध है। तत्कालीन गुहा-लेखों में सामाजिक, धार्मिक तथा चित्र-कला सम्बन्धी बातों का ज्ञान विशेष रूप से होता है, जिसका उदाहरण अजन्ता और बाग गुहा-लेख हैं।

मध्ययुग में सामाजिक परिस्थितियों के बदल जाने के कारण बौद्ध तथा हिन्दूधर्म में मूर्ति-पूजा की प्रधानता हो गयी और उसके साधन के लिये दान

का महत्त्व बढ गया। अत जिसे दान दिया जाता था उसका उल्लेख दान-पत्र पर आवश्यक हो गया। इसीलिये ताम्र-पत्र का उपयोग लेख के लिए किया गया, जिस पर आसानी से दाता अपने दान का उल्लेख करके दान-ग्रहीता को दे देता था। ताम्र-पत्रों का प्रचार गुप्त-काल से अधिक हुआ है। ताम्र-पत्र में लेख खुदवाने का यही रहस्य था।

भारतीय इतिहास म सिक्कों पर लेख खुदवाने का सर्वप्रथम प्रयोग यूनानी शासकों ने किया। उन्हीं के अनुकरण पर कुषाण-नरेश तथा गुप्त-सम्राटों ने भी स्वर्ण सिक्कों पर छन्दोबद्ध लेख खुदवाए जिन पर उन-उन राजाओं के आराध्य देवों की मूर्ति अथवा उनकी वन्दना मिलती है।

इसके अतिरिक्त मुहरों पर भी लेख मिलते हैं। ये मुहर-लेख प्राय धार्मिक स्थिति पर विशेष प्रकाश डालते हैं। मुद्रा प्रसग मे प्रागैतिहासिक युग के नगर मोहेनजोदरो, हरप्पा से प्राप्त मुहरों से प्राचीन भारत के इतिहास पर ७ प्रकाश पडता है। प्राचीन काल में स्तूप के चारों ओर वेदिका बनवाई जाती थी जिस पर लेख खुदवाए जाते थे। इसकी चर्चा स्तूप प्रसग म आ चुकी है। इसी प्रकार प्राचीन समय में मन्दिर तथा प्रतिमा के नीचे कुछ ईंटों पर लेख खोदे जाते थे, जिनका पता कनिंघम ने लगाया। मथुरा सग्रहालय म ई० ... पहली सदी के सुरक्षित ईंटों तथा मिट्टी के पात्रों में छिन्न-भिन्न खुदे ... मिलते हैं। इस प्रकार अभिलेख लिखने के आधार का सक्षिप्त परिचय मिलता है

स्थान :—

यद्यपि अभिलेख कहीं भी खुदवाए जा सकते थे किन्तु उनके स्थान का चुनाव अपना विशेष महत्त्व रखता है। किसी उद्देश्य-विशेष के कारण ही अधिकतर लेख राजधानी, जयस्कन्धावार और प्रधान नगरों में खुदवाये गये थे। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष म नगरों का निर्माण ऐसे स्थानों पर किया जाता था जिनका किसी न किसी प्रकार का स्थानीय अथवा भौगोलिक महत्त्व था। कालान्तर म वही स्थान सास्कृतिक केन्द्र बन गया। अभिलेख खुदवाने के विभिन्न स्थानों का अनुशीलन यह सकेत करता है कि राजधानी, महत्त्वपूर्ण नगर, तीर्थ स्थान एव जयस्कन्धावार की ओर शासकों का ध्यान विशेष रूप से रहता था और उन स्थानों पर महत्त्व के अभिलेख भी खुदवाये जाते थे। बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के बाद सम्राट् अशोक ने साम्राज्य के विशिष्ट तथा बौद्ध-धर्म के

सम्बन्धित स्थानों पर लेख अंकित कराया। भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थानों में धर्म-स्तम्भ अंकित हुए। सारनाथ (प्रथम प्रवचन-स्थान) कौशाम्बी (बुद्ध जन्म स्थान) तथा साँची में स्तम्भ-लेख खड़े हैं, जो स्थान-विशेष के द्योतक हैं। अशोक ने लेख को धर्म प्रचार का प्रधान साधन माना। अतएव प्रधान नगर, राज्य-सीमा तथा धार्मिक केन्द्रों में धर्म लेख अंकित कराये गये। अशोक के परवर्ती राजाओं ने भी राज्य सीमा पर अभिलेख खुदवाये, जिनमें पल्लव-नरेशों का तक्षशिला-लेख, नहपान का जूनागढ़ और नासिक-लेख तथा रुद्रदामन् का जूनागढ़-लेख प्रसिद्ध हैं।

कौशाम्बी के सीमा-महत्त्व को समझ कर ही समुद्रगुप्त ने अपनी विजय यात्रा का वर्णन अशोक-स्तम्भ पर लिखवाया होगा क्योंकि उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक आते समय इसी मार्ग से व्यापारी आते जाते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि लेख भी उसके उज्जयिनी जाने के समय अंकित किया गया होगा, क्योंकि उज्जयिनी उसकी दूसरी राजधानी थी।

प्राचीन समय में मालवा भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। यह विदिशा तथा उज्जयिनी प्रान्त की राजधानी था। मन्दसोर के अभिलेख इस बात के साक्षी हैं कि राजमार्ग में स्थित होने के कारण वहाँ श्रेणियों का व्यापार होता था। वैशाली एक प्रधान नगर तथा संघ का केन्द्र था। इसीलिए विभिन्न कार्यालयों की मुहरें वहाँ उपलब्ध हैं। काशी (राजघाट) की मुहरें धार्मिक भाव को लेकर अंकित थीं जिनमें शैव मत की झलक मिलती है। इन स्थानों के अतिरिक्त जयस्कन्धावारों (सेनाकैम्पों) में भी लेख अंकित कराने का आदेश दिया जाता था। वह लेख सदा विजय के उपलक्ष्य में ही खुदवाया जाता था। वलभी, बंसखेड़ा, मालिमपुर तथा मुँगेर के ताम्रपत्र इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। पुराने समय में जिन स्थानों का कोई सांस्कृतिक महत्त्व था वहाँ पर भी प्रतिमा-स्थापना के समय मूर्ति को आधार शिला पर लेख अंकित होते थे। इस सम्बन्ध में मथुरा तथा सारनाथ के अनेक मूर्ति-लेख प्रकाश में आये हैं। इसी प्रकार नालन्दा भी शिक्षा का प्रधान केन्द्र था और वहाँ पर अध्ययन करने के लिये देश विदेश के छात्र आते थे, अतः शैक्षणिक दृष्टि से इस स्थान का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व था। वहाँ के लेख शैक्षणिक महत्त्व को ही प्रकाश में लाने के लिए खुदवाये गये थे। इस प्रकार संक्षेप में राजधानी, जयस्कन्धावार, तीर्थ तथा सांस्कृतिक महत्त्व के स्थानों पर लेख खुदवाये जाते थे।

अवसर—विचार करने पर लेख उत्कीर्ण कराने के निम्नलिखित अवसरों का उल्लेख मिलता है—(१) दान के अवसर, (२) धार्मिक अवसर, (३) विजय यात्रा, (४) सामाजिक तथा (५) व्यापारिक अवसर पर।

मौर्यकाल में गया जिले में स्थित 'बराबर' पर्वत का गुहालेख दान के अवसर पर खुदवाए गये लेखों में सबसे प्राचीन है। ईसा पूर्व सदियों में साँची वेदिका पर भी उस क्षत्र के दानकर्ता का नामोल्लेख है। दान के अवसर पर खुदे लेखों में बंगाल के पालनरेश देवपाल का नालंदा ताम्रपत्र विशेष उल्लेखनीय है। दान के अवसर पर लेखों का खुदवाया जाना बहुतायत से हुआ था। इसी प्रकार धार्मिक भावना के कारण भी अशोक के लेखों का तथा अन्य देवमन्दिरों के निर्माण के अवसर पर खुदे लेखों का वर्णन मिलता है।

प्राचीन भारत में विजय-प्रयाण की समाप्ति पर विजय-विवरण की जानकारी अन्य लोगों को भी हो जाय अतएव उस अवसर पर भी लेख अंकित करवाये जाते थे। इस प्रसंग में प्रयाग स्तम्भलेख, उदयगिरि लेख, ऐहोल-प्रशस्ति, घोसुर लेख एवं भोर संग्रहालय का ताम्रपत्र लेख क्रमशः समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वि०, पुलकेशी द्वि०, प्रतिहार नरेश भोज तथा राष्ट्रकूट ध्रुवराज के विजय वृत्तान्त का वर्णन करते हैं। सामाजिक अवसर पर लेख खुदवाने की परंपरा प्राचीन समय में तो कम थी किन्तु मध्यकालीन अभिलेखों में इसका उल्लेख विशेष रूप से पाया जाता है। गहड़वाल राजा जयचन्द ने राजकुमार के जन्म तथा चूड़ाकर्म के अवसर पर दान दिया था। इसके अतिरिक्त अनेक त्योहारों पर भी दान देने का तथा उन्हें दानपत्रों पर अंकित कराने का संकेत है। त्योहार के वे अवसर थे—संक्रान्ति, अक्षय तृतीया, रामनवमी, कृष्णाष्टमी, एकादशी तथा अधिक मास। माता-पिता के श्राद्ध के अवसर पर भी दानपत्रों का उल्लेख गहड़वाल तथा कलचुरीनरेशों के लेखों में मिलता है।

"आश्विनमासे कृष्णपक्षे पितुः सांवत्सरिकश्राद्धे"।

व्यापारिक अवसरों पर भी लेख खुदवाये जाते थे। मिट्टी की मुहरों पर श्रेणियों द्वारा अनेक लेख मिले हैं। वैशाली में ऐसे लेखों की अधिकता है जिन्हें श्रेणी-मुख्यों द्वारा व्यवसाय प्रसंग में तैयार किया गया था। व्यापार-वृद्धि के लिए ही सिक्के तैयार किए जाते थे जिन पर कई ढंग के मुद्रालेख खुदवाने जाते थे। सिक्कों पर धार्मिक नीति को अपनाने का कारण राजाओं का नाम खोदा गया था। यूनानी शासकों शकनरेशों और गुप्त सम्राटों के सिक्कों पर

पदवीयुक्त शासकों का नाम पाया जाता है। इस प्रकार राज्य की आर्थिक दशा सुधारने के लिए कई प्रकार के सिक्के तैयार किये गये। गुप्त युग के पश्चात् संगठित व्यापार न होने के कारण ही सिक्कों पर लेख खुदवाने का प्रचलन रहा। उपरोक्त अवसरों के अतिरिक्त कुछ गौण-अवसर पर भी लेख खुदवाने का रिवाज चल पड़ा था। शक क्षत्रप रुद्रदामन् का सुदर्शन झील की मरम्मत कराने के समय का लेख तथा आदित्यसेन का अपसढ़ का लेख इसी कोटि का था। उस समय रानी कोणदेवी ने तालाब खुदवाया था।

अभिलेखों का वर्गीकरण :—

उपसंहार में हम अभिलेखों के संक्षिप्त एवं स्थूल वर्गीकरण का निर्देश करके इस प्राक्कथन को समाप्त कर रहे हैं। अभिलेखों का उपरोक्त परिशीलन उन्हें मुख्य रूप से पाँच भागों में विभक्त करता है—

(१) धार्मिक लेख—ऐसे अभिलेख जिनमें प्रधानतया धार्मिक चर्चा है। उनका लक्ष्य धर्म का प्रचार प्रतीत होता है। अशोक का अभिलेख इसका उदाहरण है।

(२) प्रशंसात्मक लेख—ऐसे अभिलेख जिनमें शासकों की प्रशंसा की गयी है। प्रशासक का यशोगान ही प्रशस्ति का मुख्य उद्देश्य था। प्रयाग प्रशस्ति, मन्दसोर प्रशस्ति एवं ऐहोल प्रशस्ति इसके मुख्य उदाहरण हैं।

(३) स्मारक लेख—ऐसे अभिलेख जिन्हें शासक किसी घटना विशेष की स्मृति में खुदवाते थे इस प्रकार के अभिलेखों में अशोक का लुम्बिनी-लेख प्रसिद्ध है।

(४) आज्ञापत्र—ऐसे लेख जिन पर शासक अपनी आज्ञाओं को अंकित कराते थे। दामोदरपुर तथा नालंदा के ताम्रपत्र इसके उदाहरण हैं।

(५) दानपत्र—ऐसे लेख जिन पर दाता दान-ग्रहीता के नाम का निर्देश कर दानवस्तु को अंकित कराते थे। ऐसे लेखों में 'बराबर' का गुहालेख महत्त्वपूर्ण है।

आशा है ये अभिलेख पाठकों के समक्ष अपनी गौरवगाथा कह सकने में समर्थ हो सकेंगे।

महामना शती समारोह
२५ दिसम्बर १९६१–६२ —श्री-बन्धु

॥ श्री ॥

उत्कीर्णलेख-पञ्चकम्

(१) गिरिनगरे रुद्रदाम्नः प्रस्तराऽभिलेखः

सिद्धम् । इदं तडाकं सुदर्शनं गिरिनगराद [पि दू] र
मृत्तिकोपलविस्तारायामोच्छ्रयनिःसन्धिबद्धदृढसर्वपालीकत्वात्पर्वतपादप्रति-स्पर्धिसुश्लिष्टबन्धं वजातेनाकृत्रिमेण सेतुबन्धेनोपपन्नं सुप्रतिविहितप्रणाली-परीवाहमीढविधानं च त्रिस्कन्धं नादिभिरनुग्रहैर्महत्युपचये वर्तते ।

सिद्धि हो । गिरिनगर (आधुनिक जूनागढ) के समीप मिट्टी और पाषाण-खण्डों की चौड़ाई, लम्बाई और ऊँचाई से बिना जोड़ की बँधी हुई अत एव मज़बूत बन्ध-पंक्तियों के कारण दृढता में पर्वत के समीपवर्ती छोटी पहाड़ियों के साथ स्पर्धा करने वाला, ठोस, स्वभावतः विशाल बाँध से युक्त, समुचित रूप से बने हुए जल के निकलने के लिए छोटी नाली, बढ़े हुए जल को निकालने के लिये बड़े नाले और गन्दगी से बचने के उपाय से युक्त, तीन भागों में विभक्त, और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था से सम्पन्न सुदर्शन नाम का यह झील इस समय बड़ी अच्छी दशा में है ।

तदिदं राज्ञो महाक्षत्रपस्य सुगृहीतनाम्नः स्वामिचष्टनस्य पौत्र[स्य] [राज्ञः क्षत्रपस्य सुगृहीतनाम्नः स्वामिजयदाम्नः पुत्रस्य] राज्ञो महा-क्षत्रपस्य गुरुभिरभ्यस्तनाम्नो रुद्रदाम्नो वर्षे द्विसप्ततितमे ७२ मार्गशीर्ष-बहुलप्रति [पदायां] ···सृष्टवृष्टिना पर्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां गिरेरूर्जयतः सुवर्णसिकतापलाशिनीप्रभृतीनां नदीनामतिमात्रोद्-वृत्तैर्वेगैः सेतुम······[कि]यमाणानुरूपप्रतिकारमपि गिरिशिखरतरु-तटाट्टालकोपतल्पद्वारशरणोच्छ्रयविध्वंसिना युगनिधनसदृशपरमघोरवेगेन वायुना प्रमथितसलिलविक्षिप्तजर्जरीकृताव[दी]र्ण क्षिताश्मवृक्षगुल्मलता-प्रतानमा नदीतलादित्युद्घाटितमासीत् । चत्वारि हस्तशतानि विंशदुत्त-

राष्यायतेन एतावन्त्येव विस्तीर्णेन पञ्चसप्ततिहस्तानवगाढेन भेदेन निःसृत सर्वतोय मरुधन्वकल्पमतिभृश दुर्द[र्शनमासीत् ।]

प्रात स्मरणीय महाक्षत्रप राजा चष्टन के पौत्र, प्रात स्मरणीय क्षत्रप राजा जयदामन् के पुत्र, श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा सतत स्मरणीय नामवाले महाक्षत्रप रुद्रदामन् के बहत्तरवें वर्ष म अग्रहण महीने के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को घनघोर वर्षा हुई, जिससे समस्त पृथ्वी मानो समुद्र के समान प्रतीत होने लगी, फलस्वरूप 'ऊर्जयत्' नाम के पर्वत से निकलने वाली 'सुवर्णसिकता' एव 'पलाशिनी' प्रभृति नादियों मे बडी तेज की बाढ आ गई, उसके बाद सुदर्शन झील के बाँध को बचाने के लिये अनुकूल उपाय किये जाने पर भी, पर्वत की चोटियों, वृक्षों, तटों अटारियों, मकानों के ऊपरी तल्लों, दरवाजों और बचाव के लिये बनाये गये ऊँचे-ऊँचे स्थानों को विनष्ट कर देनेवाले तथा प्रलयकालीन प्रभजन के समान प्रचण्ड वेगवाले पवन से विलोडित जल के विक्षेप से जर्जरीभूत तथा पत्थरों, वृक्षों, झाडियों और लताओ के फेंके जाने से दृश्य वह सुदर्शन झील पलाशिनी प्रभृति उपर्युक्त नदियों के प्रबल वेग से नदी की तलहटी तक उखाड दिया गया। वहाँ ४२० हाथ लम्बी, ४२० हाथ चौडी और ७५ हाथ गहरी दरार पड जाने के कारण झील का सारा पानी बह गया। फलस्वरूप, वह सुदर्शन देखने में रेगिस्तान के समान बहुत ही बीभत्स हो गया।

[तदिद जनपद] स्यार्थे मौर्यस्य राज्ञ चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितमशोकस्य मौर्यस्य [कृ] ते यवनराजेन तुषास्फेनाधिष्ठाय प्रणालीभिरलङ्कृत तत्कारितया च राजानुरूपकृतविधानया तस्मिन् भेदे दृष्टया प्रणाड्या विस्तृतसेतु ··· ।

जनपद के कल्याण के लिये मौर्यवशी राजा चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय शासक वैश्यजातीय पुष्यगुप्त ने सर्वप्रथम सुदर्शन नाम के इस झील का निर्माण करवाया था, उसके बाद मौर्यवशी राजा अशोक के लिये सुराष्ट्र प्रान्तीय यवन शासक तुषास्फ ने उस सुदर्शन झील को छोटी-बडी नालियों से सुशोभित कर दिया, दरार पडने के बाद दीख पडनेवाली, राजोचित सुरक्षा व्यवस्था से सम्पन्न और तुषास्फ के द्वारा निर्मित उन्हीं नालियों से युक्त विशाल बाँध (वाले भग्न सुदर्शन झील को रुद्रदामन् ने फिर से दुरुस्त कर दिया—आगे से सम्बन्ध ।)

···णा गर्भात्प्रभृत्यविहतसमुदितराजलक्ष्मीधारणागुणत सर्ववर्णैर

भिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेना प्राणोच्छ्वासात्पुरुषवधनिवृत्तिकृतसत्य-प्रतिज्ञेनान्यत्र सग्रामेष्वभिमुखागतसदृशशत्रुप्रहरणवितरणत्वाविगुणरिपु 'धृतकारुण्येन स्वयमभिगतजनपदप्रणिपतितायुषशरणदेन दस्युव्यालमृगरोगादिभिरनुपसृष्टपूर्वनगरनिगमजनपदाना स्ववीर्यार्जितानामनुरक्तसर्वप्रकृतीना पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्रमरुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरान्तनिषादादीना समग्राणा तत्प्रभावाद्य [यथावत्प्राप्तधर्मा] र्थकामविषयाणा विषयाणा पत्या सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्द जातोत्सेकविधेयाना यौधेयाना प्रसह्योत्सादकेन दक्षिणापथपते सातकर्णेद्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुदनात्प्राप्तयशसा मा

जन्म से ही अबाध रूप से प्राप्त राजलक्ष्मी के धारणात्मक गुणों के कारण अपनी रक्षा के लिए समीप पहुँच कर सभी जाति के लोगों ने जिसको अपना राजा बनाया था, युद्धभूमि के अतिरिक्त आजीवन मनुष्य हिंसा नहीं करने की अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा को जिसने चरितार्थ किया था, समरभूमि में उपस्थित समकक्ष शत्रुओं को जो अपने बाणों का लक्ष्य और दुर्बल शत्रुओं को अपनी दया का पात्र बनाता था, अपने उपस्थित अशरण जनसमूह को जो दीर्घ जीवन और अभयदान देता था, चोर-डाकू, हिंसकजन्तु, जंगली जानवर और नानाविध रोग आदि से सर्वदा अनाक्रान्त रहनेवाले जनसमुदाय से युक्त 'स्थानीय स्वशासन संस्थाओं' से सम्पन्न नगरोंवाले, अपने पराक्रम से उपलब्ध और राज्य के प्रति निष्ठावान् मन्त्रियोंवाले, सन्तुलित रूप से धर्म, अर्थ और काम आदि त्रिवर्गों का सम्पादन करने वाले—पूर्वी मालव, पश्चिमी मालव अनूप जनपद, उत्तरी काठियावाड, दक्षिणी काठियावाड, साबरमती नदी के समीपवर्ती प्रदेश, मारवाड़, कच्छ, पश्चिमी सिंध, पूर्वी सिन्ध, दक्षिणी काठियावाड और उत्तरी कोंकण के बीच का प्रदेश, उत्तरी कोंकण, पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पहाड़ी भूमि, प्रभृति सभी प्रान्तों का जो राजा था, सभी क्षत्रियों में प्रख्यात "वीर" शब्द से उत्पन्न अभिमान के कारण स्वतन्त्र होकर रहने वाले "यौधेय" संज्ञक लड़ाकू क्षत्रियों को बलपूर्वक जिसने उखाड़ कर फेंक दिया, दक्षिणीभारत के राजा सातकर्णि को खुले मैदान में दो-दो बार जीतकर भी निकटतम सम्बन्ध के कारण मुक्त कर देने से जिसने कीर्ति को प्राप्त किया।

[प्रा]प्तविजयेन भ्रष्टराजप्रतिष्ठापकेन यथार्थहस्तोच्छ्रयार्जितोर्जितधर्मानुरागेन शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्याना विद्याना महतीना पारणधारण-

विज्ञानप्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना तुरगगजरथचर्य्यासिचर्मनियुद्धाद्या······ तिपरबललाघवसौष्ठवक्रियेण अहरहर्दानमानानवमानशीलेन स्थूललक्षेण यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कभागैः कनकरजतवज्रवैडूर्यरत्नोपचयविष्यन्दमानकोशेन ।

जिसने सर्वदा सर्वत्र विजय को ही प्राप्त किया, राज्यच्युत राजाओं को जिसने फिर से प्रतिष्ठित कर दिया, न्याय के आसन से हाथ उठा-उठाकर समुचित निर्णय देते रहने के कारण जिसने धर्म के प्रति अपने महान् अनुराग का उपार्जन किया, व्याकरण, राजनीति, संगीत एवं तर्क आदि विशाल एवं गूढ़ शास्त्रों के अध्ययन, स्मरण, सम्यक् अनुभूति और व्यवहार से जिसने प्रचुर यश को प्राप्त किया घोड़े, हाथी और रथ के चलाने तथा ढाल और तलवार के युद्ध में जो अत्यधिक साहस, स्फूर्ति और सफाई दिखाता था जो दिन-रात दान और मान के विषय में सर्वथा उदारभाव से सम्पन्न रहता था समुचित रूप से मिलनेवाली मालगुजारी और चुंगी के कारण सोने चाँदी हरे रंग के वैडूर्य मणि और रत्नों की ढेर से जिसका खजाना भरपूर था ।

स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालङ्कृतगद्यपद्य······न प्रमाणमानोन्मानस्वरगतिवर्णसारसत्वादिभिः परमलक्षणव्यञ्जनैरुपेतकान्तमूर्तिना स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना

स्फुट (अर्थव्यक्ति) लघु (प्रसाद), मधुर (माधुर्य), चित्र (ओज), कान्त (कान्ति) प्रभृति शब्द-समय (शब्द संकेत = काव्यगुणों) से सम्पन्न और अलङ्कारों से युक्त गद्यपद्यात्मक काव्य-रचना में निपुण बौद्धिक गुणों से, यथोचित चौड़ाई, लम्बाई ऊँचाई, बोलने का स्वर, चलने की गति, शरीर के रंग, बल, आदि शारीरिक गुणों से, तथा चक्रवर्तित्व आदि के द्योतक शंख-चक्र आदि के चिह्नों से जिसकी आकृति चमक रही थी, वीरतापूर्ण कार्यों से जिसने स्वयं "महाक्षत्रप" उपाधि को धारण किया और जिसने राजकुमारियों के स्वयंवर में अनेक जयमालों का ढेर लगाया था ।

महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना वर्षसहस्राय गोब्राह्मण···र्थं धर्मकीर्तिवृद्ध्यर्थं चापीडयित्वा करविष्टिप्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं जनं स्वस्मात्कोशान्महता धनौघेनानतिमहता च कालेन त्रिगुणदृढतरविस्तारायामं सेतुं विधाय··· ····[सु] दर्शनतरं कारितमिति ।

इन उपर्युक्त गुणों से अलंकृत महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने हजारों वर्ष तक गाय

और ब्राह्मणों के कल्याण के लिए, पुण्य और यश की वृद्धि के लिए नगरवासी और ग्रामवासी प्रजाजनों को कर, बेगारी और भेंट आदि से बिना पीड़ित किये ही, अपने राज-कोश की अपार धन राशि के व्यय से थोड़े ही समय में, पहले की अपेक्षा तिगुने लम्बे-चौड़े और सुदृढ़ बाँध बँधवा कर उस सुदर्शन को और अधिक सुन्दर बनवा दिया।

अस्मिन्नर्थे महाक्षत्रपस्य मतिसचिवकर्मसचिवैरमात्यगुणसमुद्युक्तैरप्यति-महत्वाद्भेदस्यानुत्साहविमुखमतिभि प्रत्याख्यातारम्भं पुनःसेतुबन्धनैरा-श्याद्धाहाभूतासु प्रजास्विहाधिष्ठाने पौरजानपदजनानुग्रहार्थं पार्थिवेन कृत्स्नानामानर्तसुराष्ट्राणां पालनार्थं नियुक्तेन पह्लवेन कुलैपपुत्रेणामात्येन सुविशाखेन।

इस विषय में यह स्मरणीय है कि—झील के दरार की विशालता को देखकर महाक्षत्रप रुद्रदामन् के सचिवोचित समस्त गुणों से युक्त मतिसचिव और कर्मसचिवों ने भग्न सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार कार्य के प्रति अपनी असहमति प्रकट कर दी। इससे बाँध के फिर से बँध जाने की आशा टूट गई और प्रजा त्राहि त्राहि करने लगी। तब अपने शासन में प्रजा के हित को ध्यान में रखकर राजा रुद्रदामन् ने समस्त आनर्त और सुराष्ट्र प्रदेश के राज्यपाल के रूप में 'पह्लव-कुलैप' का पुत्र अमात्य 'सुविशाख' को नियुक्त किया।

यथावदर्थधर्मव्यवहारदर्शनैरनुरागमभिवर्द्धयता शक्तेन दान्तेनाचपलेना-विस्मितेनार्येण स्वधिष्ठिना धर्मकीर्तियशांसि भर्तुरभिवर्द्धयतानुष्ठितमिति ॥

धर्म-अर्थ और व्यवहार के समुचित निरीक्षण से प्रजा के अनुराग को बढ़ाने वाले, शक्तिशाली, संयमी, स्थिर, निरभिमानी, आर्योचित गुणों से सम्पन्न और अपने कर्तव्य से कभी नहीं डिगनेवाले अमात्य सुविशाख ने एक सफल शासक के रूप में अपने स्वामी के धर्म, कीर्ति और यश को बढ़ाने के लिये सुदर्शन झील के बाँध को बँधवा दिया।

अभिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व

अभिलेख का विषय—सुराष्ट्र प्रान्त में 'गिरिनगर' नाम का एक स्थान था, जिसे आजकल जूनागढ़ कहा जाता है। वहीं पर पर्वतप्रान्त में एक प्रस्तर-खण्ड पर सम्राट् अशोक के धर्मलेख खुदे हैं। उसी प्रस्तर-खण्ड के नीचे के

हिस्से में महाक्षत्रप रुद्रदामन् का यह अभिलेख भी उत्कीर्ण है। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के द्वारा सिंचाई की दृष्टि से बनवाया गया, जूनागढ़ में स्थित, सुदर्शन झील के टूटने और रुद्रदामन के एक प्रशासक के द्वारा उस झील के बाँध के पुनर्निर्माण की घटना से सम्बन्धित यह अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व का है।

समय—इस अभिलेख का समय उत्कीर्ण वर्ष संख्या "वर्षे द्विसप्ततितमे" के आधार पर शक संवत् ७२ अर्थात् १५० ई० माना गया है। साधारणतः सभी ऐतिहासिक इसका समय ईसा की द्वितीय शताब्दी का मध्यभाग ही मानते हैं।

जूनागढ़ का यह अभिलेख उज्जैन के महाक्षत्रप रुद्रदामन् के इतिहास निर्माण का प्रधान साधन है। इसके द्वारा रुद्रदामन् की सैनिक सफलताओं, उसका साम्राज्य-विस्तार, शासनप्रबन्ध और उसके व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

परिचय—रुद्रदामन् भारत में विदेशी आक्रमण करनेवाले राजाओं में शकजातीय राजाओं का वंशज था। शकजातीय प्रशासक क्षत्रप और महाक्षत्रप कहलाते थे। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने 'क्षत्रप' शब्द को फारसी के 'क्षत्रपावन' शब्द का संस्कृत रूपान्तर माना है, जिसका अर्थ —'प्रान्त का रक्षक' होता है। 'क्षत्रप' उपाधिधारी शक राजा लोग भारत के उत्तर-पश्चिम, मथुरा, महाराष्ट्र और उज्जैन में राज्य करते थे। इन क्षत्रप राजाओं का आगमन भारत के प्रथम शकविजेता 'मोअस' से माना जाता है। 'मोअस' का शासनकाल 'स्टेनकोनो' के अनुसार ई० सन् ९० वर्ष पूर्व माना जाता है।

रुद्रदामन् का सम्बन्ध उज्जैन के क्षत्रपों से था। उज्जैन के क्षत्रप राजवंश का प्रथम संस्थापक 'यसामोतिक' था, जो सम्भवतः 'नहपान' नामक क्षहरात राजा का वंशज था। इसी यसामोतिक का पुत्र 'चष्टन' उज्जैन का प्रथम शक राजा बना; जिसने पहले 'क्षत्रप' के पद से शासन किया, किन्तु बाद में 'महा-क्षत्रप' बन गया।

महाक्षत्रप रुद्रदामन् क्षत्रपराजा 'जयदामन्' का पुत्र और महाक्षत्रप चष्टन का पौत्र था। शिलालेख (पृ० १, पं० १३) में इस बात का इस प्रकार उल्लेख है :—

"राज्ञो महाक्षत्रपस्य……………रुद्रदाम्नः………—।"

जहाँ तक इसके हाथ में शासन-सूत्र के आने की बात है, उसका स्पष्ट संकेत हमें अभिलेख (पृ. २, प० २९–पृ ३ प० १) में आये "सर्ववर्णैरभिगम्यर क्षणार्थं पतित्वेन वृतेन" से मिल जाता है कि सभी जातियों के लोगों ने इसे अपना रक्षक चुना था। इससे यह प्रतीत होता है कि रुद्रदामन् को शासक चुना गया था। इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि क्षत्रपों के शासन में महाक्षत्रप, क्षत्रप के साथ-साथ शासन करता था और यह क्षत्रप साधारणतया उसका पुत्र होता था और उचित समय पाकर महाक्षत्रप भी हो जाता था। 'अन्धाऊ' के अभिलेख में १३० ई० में रुद्रदामन् के साथ चष्टन के सम्मिलित शासन करने का उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि महाक्षत्रप चष्टन अपने पुत्र क्षत्रप जयदामन् की सहायता से शासनकार्य चलाता था किन्तु जयदामन् की आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण चष्टन ने वंशप्रथा के अनुकूल अपने पौत्र रुद्रदामन् को युवराजपद देकर अपने सहायक के रूप में क्षत्रप नियुक्त किया और उसकी सहायता से राज्यसंचालन करने लगा। अभिलेख के उपर्युक्त उद्धरण से यह प्रमाणित हो जाता है कि सभी लोगों ने चष्टन द्वारा नियुक्त रुद्रदामन् का, अपने रक्षक के रूप में, उसके राजोचित गुणों के कारण समर्थन किया और किसी ने भी इसका विरोध नहीं किया।

युद्ध और विजय—जयदामन् की मृत्यु के बाद चष्टन के राज्य का उत्तराधिकारी उसका पौत्र रुद्रदामन् उज्जैन का प्रमुख शक क्षत्रप राजा हुआ। अभिलेख की तिथि ७२ शक संवत् से उसका राज्यकाल १५० ई० के आसपास निश्चित किया गया है। अभिलेख (पृ० ४, प० १४) के—"स्वयमधिगत-महाक्षत्रपनाम्ना" इस लेख से प्रकट होता है कि अपने शासन के प्रारम्भ में अर्थात् जब वह चष्टन के साथ मिलकर शासन कर रहा था तब वह केवल 'क्षत्रप' ही था। किन्तु अपने स्वतन्त्र शासनकाल में उसने स्वतः ही "महाक्षत्रप" उपाधि को धारण किया। इससे उसके दिग्विजय और उसके द्वारा अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त 'महाक्षत्रप' होने की बात प्रकट होती है। डॉ० राय चौधरी ने उसके स्वतः 'महाक्षत्रप' होने में एक दूसरे तथ्य का निर्देश किया है। 'स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना' (पृ० ४, प० १४) से उन्होंने यह अनुमान लगाया है कि रुद्रदामन् के राजकुल की राज्यश्री को कुछ समय के लिये किसी शत्रु ने सम्भवतः गौतमीपुत्र ने विलुप्त कर दिया था, जिसे उसने पुनः प्रतिष्ठित कर 'महाक्षत्रप' की पदवी धारण की—

"This probably indicate that the power of his house had been shaken by some enemy (Possibly Gautamiputra, and he had to restore the supreme Ksatrapa's dignity by his own powers'—Dr H C Roy Chaudhari

अभिलेख (पृष्ठ ३, पं० ९–१०) के 'दक्षिणापथपतेः ... प्राप्तयशसा'—से यह ज्ञात होता है कि रुद्रदामन् ने दक्षिणापथ के राजा सातकर्णी को दो बार पराजित किया था। किन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण उसे क्षमा प्रदान कर यशोपार्जन किया था। ऐतिहासिक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सातवाहन-वंश में सातकर्णी नाम के कई राजे थे। इस अभिलेख का सातकर्णी सातवाहन-वंश का कौन सातकर्णी है, इस विषय में विभिन्न विद्वानों का अपना-अपना अलग मत है। डॉ० डी० सी० सरकार के मतानुसार यह सातकर्णी स्वयं गौतमीपुत्र सातकर्णी है, जिसका पुत्र वासिष्ठीपुत्र सातकर्णी रुद्रदामन् का दामाद था। डॉ० रैप्सन के मतानुसार चष्टनसन द्वारा पराजित सातवाहन नृपति पुलुमावि था जो कि वासिष्ठीपुत्र सातकर्णी का भाई और उत्तराधिकारी था। डॉ० आर० सी० मजूमदार ने इसे यज्ञश्री सातकर्णी माना है और रुद्रदामन् की कन्या का विवाह वासिष्ठीपुत्र सातकर्णी से होना प्रकट किया है। श्री नीलकण्ठ शास्त्री और राजगोपालाचारी ने इसे कन्हेरी अभिलेख में उल्लिखित वासिष्ठीपुत्र सातकर्णी माना है। डॉ० अल्तेकर ने भी इन्हें कन्हेरी अभिलेख का वासिष्ठीपुत्र सातकर्णी ही स्वीकार किया है। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी और एन० एन० घोष भी इसे वासिष्ठीपुत्र सातकर्णी ही मानते हैं। अब यही मत सर्वाधिक मान्य हो चला है। इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि महाक्षत्रप चष्टन के राज्यकाल के अन्तिम भाग में अथवा उसकी मृत्यु के बाद उज्जैन के शक क्षत्रपों की राज्यशक्ति गौतमीपुत्र सातकर्णी और उसके पुत्र वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के प्रभाव के बढ़ जाने से अव्यवस्थित हो गयी थी। इसीलिये रुद्रदामन् को सातवाहनों के साथ घोर युद्ध करना पड़ा था और उन्हें पराजित कर वह पुनः अपने वंश की राज्यलक्ष्मी को प्रतिष्ठित कर सका था।

अभिलेख (पृ० ३, पं० ८–९) के "वीरशब्द......उत्सादनेन" इस वाक्यांश में स्वाभिमानी एवं वीर यौधेयों के साथ रुद्रदामन् के युद्ध का तथा यौधेयों को पराजित करने का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः यौधेय लोगों का साम्राज्य सतलज के तटपर और भरतपुर स्टेट के विजयगढ़ क्षेत्र तक विस्तृत था। पूर्वी पंजाब में उनका यौधेयगण था जहाँ उनके गण नामों से युक्त अनेक

(१२) अपरान्त—उत्तरी कोंकण, जिसकी राजधानी सुरपारक थी।

(१३) निषाद—संभवतः पश्चिमी विन्ध्य और सरस्वती नदी प्रदेश इसके अन्तर्गत आते थे। इसका उल्लेख महाभारत में भी मिलता है।

उपर्युक्त प्रदेशों पर रुद्रदामन् का आधिपत्य था, इस बात का संकेत तो मिलता है किन्तु अभिलेख से इस बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है कि रुद्रदामन् ने इन राज्यों को कब जीता था। सम्भवतः सुराष्ट्र, कुकुर तथा अपरान्त गौतमीपुत्र के अधीन थे। अतः रुद्रदामन् ने गौतमीपुत्र अथवा उसके पुत्र पुलुमावि से ही इन तीनों प्रान्तों को जीता था। रुद्रदामन् के द्वारा सिन्धु-सौवीर, के प्रदेशों पर विजय प्राप्त करना इस बात का द्योतक है कि उसे कुषाणवंशी कनिष्क के उत्तराधिकारियों से भी लोहा लेना पड़ा होगा और उन्हें परास्त करके ही उन राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाने में वह सफल हुआ होगा।

अभिलेख (पृ० ३, प० २९) के "भ्रष्टराज्यप्रतिष्ठापकेन" इस कथन की तुलना गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की राज्यविजय सम्बन्धी उस नीति से की जा सकती है जिसके अन्तर्गत वह विजित राज्यों को उन्हीं के शासकों को पुनः लौटा देता था, किन्तु वे शासक निश्चित रूप से भेंट देकर अपने आपको उसके अधीन मानते थे। रैप्सन ने इसका यह अर्थ समझा है कि जो प्रादेशिक शासक नहपान के अधीन थे, उन्हें सातवाहनवंशी गौतमीपुत्र ने नष्ट कर दिया था किन्तु रुद्रदामन् ने पुनः उन्हें अपने-अपने राज्यों में प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि रुद्रदामन् ने अपने शासन के अल्पकाल में ही अनेक राज्यों पर विजय प्राप्त कर साम्राज्य को पूर्णतया व्यवस्थित कर लिया था।

शासन व्यवस्था—रुद्रदामन् एक महान् योद्धा और विजेता ही नहीं था वरन् एक सफल और योग्य शासक भी था। अभिलेख में यत्र-तत्र पाये जाने वाले उल्लेखों से उसके सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था की रूपरेखा तैयार की जा सकती है—

(१) रुद्रदामन् का समस्त साम्राज्य शासन की सुविधा के लिये कई प्रान्तों में बँटा हुआ था। उसकी राजधानी उज्जैन थी, जहाँ से समस्त साम्राज्य का शासन-सूत्र सञ्चालित होता था।

इस प्रकार के शासन-प्रबन्ध का संकेत हमें शिलालेख (पृ० ५, प० ८) के "पौरजानपदजनानुग्रहार्थं पार्थिवेन" इस वाक्यांश से मिलता है, जिसमें

रुद्रदामन् के द्वारा आनर्त और सुराष्ट्र प्रान्त के शासक के रूप में नियुक्त सुविशाख के द्वारा सुदर्शन झील के सस्कार की घटना का उल्लेख किया गया है।

(२) शासन को सुव्यवस्थित ढग से चलाने के लिये उसने कई अमात्यों की नियुक्ति की थी। वे अमात्य दो प्रकार के होते थे—एक मतिसचिव, और दूसरा कर्मसचिव। मतिसचिव राजा को सलाह देते थे और कर्मसचिव राज्य योजना को कार्यरूप में परिणत करते थे। इसका उल्लेख, अभिलेख (पृ० ५ के प० ६), में है—"मतिसचिवकर्मसचिवै अमात्यगुणसमुद्युक्तै ।"

(३) यद्यपि शासन की सबसे छोटी इकाई का निश्चित स्वरूप क्या था इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है फिर भी नगर निगम, जनपद तथा पौरजानपद का उल्लेख अवश्य किया गया है (अभिलेख पृ० ३ प० ४)।

(४) रुद्रदामन् के शासन की कर-व्यवस्था बहुत व्यवस्थित और उदार थी। वह प्रजा से विशेष कर नहीं वसूल करता था। उस समय के स्वाभाविक अर्थात् अनिवार्य अथवा 'सामान्य कर' और विशेष कर' के प्रकारों का उल्लेख अभिलेख (पृ० ४, प० ३) में किया गया है—"यथावत्प्राप्तै बलिशुल्कभागै"।

इन उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि 'बलि शुल्क' और 'भाग' वास्तविक या सामान्य कर थे जो प्रजाओं को देना पड़ता था। विष्टि' और 'प्रणय' विशेष कर के अन्तर्गत थे।

व्यक्तित्व—अभिलेख से रुद्रदामन् के व्यक्तित्व पर भी बड़ा प्रकाश पड़ता है। यह केवल एक विजेता और शासक ही नहीं था प्रत्युत जनता के सुख-दुख में भाग लेने वाला बड़ा ही दयालु प्रजापालक भी था। रुद्रदामन् को इस बात का गर्व था कि उसने प्रजाओं से किसी भी प्रकार का कर बिना लिये ही अपने राज्यकोष के व्यय से सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार कराया था।

सुदर्शन झील का सस्कार कराना रुद्रदामन् के राज्य की महत्त्वपूर्ण घटना थी। उस झील का सक्षिप्त इतिहास निम्नलिखित है —

जूनागढ़ सर्वप्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा से उसके प्रान्तीय शासक वैश्य पुष्यगुप्त ने सिंचाई की दृष्टि से एक पर्वतीय नदी के जल को लेकर एक झील का निर्माण कराया। अशोक के प्रान्तीय यवन शासक तुषास्फ ने उससे नहरें निकलवायीं। उस झील का नाम सुदर्शन था। रुद्रदामन् के समय (१५० ई०) में ऊर्जयत् पर्वत से निकलने वाली सुवर्णसिकता और पलाशिनी नाम की

नदियों में बाढ़ आने और प्रबल तूफान के कारण इस झील का बाँध टूट गया। प्रजा में हाहाकार मच गया और सभी विपन्नावस्था में पड़ गये।

रुद्रदामन् ने प्रजा की भलाई को ध्यान में रख कर अपने मन्त्रियों के विरोध करने पर भी प्रान्तीय शासक सुविशाख के द्वारा अपने राजकोष से इसका पुनर्निर्माण करवाया। सुदर्शन झील के पुनःसंस्कार सम्बन्धी इस पवित्र घटना के उल्लेख से यह अवश्य प्रकट हो जाता है कि वह प्रजापालन, प्रजारक्षण और प्रजारञ्जन के कर्तव्यों को निभाने वाला एक सफल लोकप्रिय शासक था।

उसकी कर्तव्य भावना बड़ी ही दृढ़ थी। उसके पवित्र निश्चय को उसके मंत्री भी नहीं डिगा सकते थे, जैसा कि (पृ० ५ पं० ७) में उल्लिखित है— ''विमुखमतिभिः प्रत्याख्यातारम्भम्'। प्रजा के प्रति इतना अनुराग था कि झील के बाँध के टूट जाने पर उसके सुधार कराने के लिये उसने प्रजा से बिना किसी प्रकार का विशेष कर लिये ही अपने राजकोष के द्रव्यों का ही उपयोग किया (दे० पृ० ४, पं० २७) ''स्वस्मात् कोशात्''।

उसमें प्रशासकीय गुणों की इतनी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। इसीलिये वह अभिलेख के (पृ २, प २१–पृ ३ प १) 'सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन' के अनुसार सभी जातियों के लोगों के द्वारा सहर्ष अपना रक्षक चुन लिया गया था। उसमें न केवल प्रशासकीय गुण ही थे अपितु वह सभी प्रकार के शास्त्रों के ज्ञान में निपुण और विशिष्ट संगीतज्ञ भी था। वह गद्य और पद्य दोनों प्रकार की काव्य रचना में निपुण और प्रजा को समुचित न्याय देनेवाला था। जिसकी अभिव्यक्ति अभिलेख (पृ० ३, पं० २१) की ''यथार्थ-हस्तोच्छ्रयार्जितोर्जित'' से होती है। वह एक सम्राट् के लक्षणों से भी युक्त था—'परमलक्षणव्यञ्जनैरुपेतकान्तमूर्तिना'' (पृ० ४, पं० १५)। इतना ही नहीं बल्कि उसके शासन की सुव्यवस्थित व्यवस्था और उसके उदार-हृदय की दृढप्रतिज्ञता का परिचय तो हमें तब मिलता है जब उसने यह शपथ ले रखी थी कि युद्धभूमि के अतिरिक्त अन्यत्र कभी भी वह नर-हत्या नहीं करेगा (देखिये, अभिलेख पृ० ३, पं० २–३) इसका उसने न केवल अपने ही जीवन में बल्कि प्रजावर्ग में भी निर्वाह किया।

इसके अतिरिक्त उसके सुसम्पन्न सभ्य चरित की सबसे बड़ी विशेषता थी— संस्कृत के प्रति उसकी अनुरक्ति। वह एक विदेशी शक वंशज होकर भी संस्कृत भाषा का पोषक था। यद्यपि उसके पूर्ववर्ती और तत्कालीन सभी भारतीय

राजा पाली तथा प्राकृत भाषा को अधिक प्रश्रय दे रहे थे। इस प्रकार संस्कृत भाषा के उन्नायक राजाओं में रुद्रदामन् का स्थान चिरस्मरणीय रहेगा। यह निर्विवाद है कि रुद्रदामन् भारतीय शक-शासकों में महान् था।

अभिलेख की साहित्यिक विशेषतायें

परिचय—शक महाक्षत्रप रुद्रदामन् के द्वारा सुदर्शन झील के जीर्णोद्धार कराने की घटना के वर्णन में लिखा गया यह अभिलेख किसी अज्ञात कवि का है। क्योंकि इस अभिलेख में कहीं भी कवि का संकेत नहीं। किन्तु अभिलेख की काव्यात्मक शैली से यह प्रतीत होता है कि इसका लेखक अवश्य ही काव्यकला में कुशल एक उच्च कोटि का कवि था।

यह अभिलेख अलङ्कृत गद्यकाव्य की शैली में लिखा गया है। संस्कृत वाङ्मय का अधिक अंश पद्यकाव्य में ही उपनिबद्ध है। गद्यकाव्य अपेक्षाकृत पद्यकाव्य से न्यून माना जाता है। यों गद्यसाहित्य का परिचय हमें ब्राह्मण, उपनिषद् और शास्त्रीय साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गद्य का काव्यात्मक स्वरूप तो यद्यपि अन्धकार में ही था किन्तु १५० ई० के लगभग लिखा गया यह अभिलेख गद्यकाव्य को अन्धकार से प्रकाश में ला देता है। इस अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्यकाव्य के साथ ही गद्यकाव्य का विकास भी हो रहा था और आगे के दण्डी, सुबन्धु और बाण तक के काव्य के चरमोत्कर्ष में यह अभिलेख भी अपना महत्त्वपूर्ण एवं प्रशस्त साहित्यिक स्थान सुरक्षित रखता है। यह न केवल गद्यकाव्य के सीधे-सादे कलेवर में है अपितु अलङ्कृत कलेवर में है।

इसके साथ ही कवि ने इसमें काव्य के गुणों की भी चर्चा की है। अतः काव्य के विकास पथ में यह एक प्रशस्त प्रकाश का कार्य करता है।

कवि ने रुद्रदामन् को काव्य के स्फुट-मधुर आदि गुणों और अलङ्कारों से सहित गद्य और पद्य काव्य के प्रणयन में निपुण बतलाया है—'स्फुटलघुमधुर-चित्रकान्तशब्दसमयोदारालङ्कृतगद्यपद्य न.....'' (पृ० ४, प० १४)। इस कथन से यह स्पष्ट है कि उस समय अर्थात् द्वितीय शताब्दी में महाकाव्य का पूर्ण विकास हो चुका था। "अलङ्कृत" शब्द से कविता के अलङ्कारों को बताने वाले अलङ्कार-शास्त्र से लेखक के पूर्ण परिचय का परिज्ञान होता है। इससे साधारण काव्य से महाकाव्यों के विकास का क्रम भी सामने आ जाता है।

रीति या शैली—इसमें गद्यकाव्य के अनुकूल ही समासयुक्त पदों का प्रयोग किया गया है। "ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।" ओजगुणविशिष्ट

समासबहुलता गद्यकाव्य का प्राण है। कवि ने यद्यपि समासों का प्रयोग बहुतायत रूप से किया है किन्तु वे समासयुक्त पद छोटे-छोटे एवं प्रवाहपूर्ण हैं। अत एव उसमें वैदर्भी रीति का समावेश मिलता है। हाँ, वर्ण्य विषय के अनुकूल कहीं-कहीं गौडी-बन्ध भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। यथा सुवर्णसिकता और पलाशिनी नदियों की बाढ के वेग से तथा प्रचण्ड वायु के झोंके से पहाड के शिखरों, वृक्षों और अट्टालिकाओं के विध्वंस और नदी-तट पर फेंके गये पत्थरों, पेडों और झाडियों के वर्णन में ओजमयी भाषा में गौडी रीति का आश्रय लेता है—"गिरिशिखरतरुतटाट्टालको " (पृ० १, पं० १८-२१)।

अभिलेख के प्रारम्भ में २३ अक्षरोंवाले नौ शब्दों का समास मिलता है। रुद्रदामन के वर्णन में तो समास की दीर्घता देखने ही योग्य है। उसके वर्णन में ४० अक्षरों से युक्त १७ शब्दों के समास का प्रयोग किया गया है। वाक्यों की लम्बाई समासों की लम्बाई से बाजी लगाती है। एक वाक्य की लम्बाई तो २३ ग्रन्थ हैं (एक ग्रन्थ से अभिप्राय २३ अक्षरों से होता है)।

२३ अक्षरोंवाले नौ शब्दों के समास का उदाहरण—"मृत्तिकोपलविस्तार······पालीकत्वात्" (पृ० १, पं० २)।

अलंकार—अलंकार में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का प्रयोग किया गया है। शब्दालंकारों में अनुप्रासों के प्रयोग अधिक मिलते हैं—विशेषकर वर्णानुप्रास के। कहीं-कहीं पर पद, पदांश और वर्णों की आवृत्ति हुई है।

पदावृत्ति का उदाहरण—मान्निवमाणा विभमाणान्।

पदांश की आवृत्ति का उदाहरण—पारण धारण। विनेमानान् मौरे-मानाम्।

वर्ण की आवृत्ति का उदाहरण—आर्जेण आहार्जेण। मध पद। नाम्ना दाम्ना। अन्वर्थनाम्नः रुद्रदाम्न।

"गिरिशिखरतरुतटाट्टालकोपतल्पद्वारशरणोच्छ्रयविध्वंसिना......" इस समासयुक्त पद में वर्णानुप्रास में स्वर एवं व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति कुशलतापूर्वक की गयी है।

अर्थालंकार का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है। पूरे अभिलेख में केवल दो बार उपमालंकार का और एक बार उत्प्रेक्षालंकार का प्रयोग हुआ है। श्लेष का प्रयोग भी एक स्थान में हुआ है, पर अल्पफल प्रधान ही है।

उपमालंकार का उदाहरण हमें "पर्वतप्रतिस्पर्धि" इस शब्द-समूह में मिलता है। इसमें सुदर्शन झील के बाँध की दीवार की तुलना पर्वत के अग्रभाग से की गई है। उपमालंकार का दूसरा उदाहरण—"मरुधन्वकल्पम्" इस पद में दरार पड़ जाने के कारण सारा पानी निकल जाने से झील की उपमा मरुप्रदेश से की गयी है।

उत्प्रेक्षालंकार का उदाहरण हमें "पर्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायाम्" में अत्यधिक वर्षा से पृथिवी को समुद्र के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है।

"अतिभृशं दुर्दर्शनम्" में श्लेष अलंकार को लाने का प्रयास तो किया गया है किन्तु वह अधिक सुन्दर नहीं हो पाया है।

भाषा—इस अभिलेख की भाषा साधारण बोलचाल की है। इसमें प्रारंभ से अन्त तक प्रवाह पाया जाता है। इसके शब्दों पर प्राकृत भाषा का प्रभाव दीख पड़ता है—"विशद्युत्तराणि" के स्थान पर—"वीशद्युत्तराणि" के प्रयोग में प्राकृत का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके साथ ही भाषा में पौराणिक काव्यशैली की सरलता भी पाई जाती है।

गुणों का समावेश—परवर्ती अलंकारशास्त्र और काव्यों में मिलनेवाले कविता के अनेक गुणों का नामनिर्देश भी किया गया है—"स्फुट-लघुमधुरोदार-चित्रकान्त......."। अभिलेख में निर्दिष्ट इन गुणों की समता हम दण्डी के गुणों से कर सकते हैं। दण्डी ने काव्यादर्श में काव्य के—

"श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज:कान्तिसमाधयः।"

दस गुणों का निर्देश किया गया है। हम अभिलेख "स्फुटता" नामक गुण को दण्डी के 'अर्थव्यक्ति' से, "लघुता" को 'प्रसाद' से मधुरता को 'माधुर्य' से, "चित्र" को ओजोगुण से और कान्त को 'कान्ति' नामक गुण से समता कर सकते हैं।

अभिलेख के इस अंश से उस समय तक अस्तित्व में आये अलंकार-शास्त्र पर बहुत प्रकाश पड़ता है और साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय शताब्दी तक काव्य के गद्य और पद्य ये दो भाग हो चुके थे। गद्य-पद्य के गुण-बोधक अभिलेख के ये शब्दनिचय रूप से पारिभाषिक हैं और किसी मान्य अलंकारशास्त्र की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं।

वर्णन ऊँची कोटि का नहीं होकर भी जलाशय के चित्रण में मनोरमता एवं हृदयहारिता है।

इस अभिलेख में शकशासक को गद्य-पद्य-काव्य-रचना में निपुण कहना इस बात का प्रतीक है कि गद्यकाव्य उस समय अपने पूर्ण विकसित अवस्था में था और उसका प्रभाव विद्वन्मण्डली में इतना अधिक बढ़ रहा था कि एक विदेशी शासक भी उसके प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। यह प्रवृत्ति विदेशी आक्रमण के समय संस्कृत के ह्रास होने की बात का खण्डन कर देती है।

(१) त्रुटियाँ—इस अभिलेख में क्रियावाचक शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर है। पूरे अभिलेख में केवल २ क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। "वर्तते" इसका प्रयोग पृ० १ की चौथी पंक्ति में, तथा "आसीत्" का प्रयोग पृ० १ की २१ वीं और पृ० २ की २री पंक्ति में हुआ है। "आसीत्" इस क्रिया का प्रयोग दो बार हुआ है। इस प्रकार कहने को तो क्रियाओं का प्रयोग ३ बार हुआ है किन्तु वे क्रियायें केवल 'वर्तते' और 'आसीत्' ये दो ही हैं। केवल 'आसीत्' क्रिया का ही दो बार प्रयोग हुआ है। संस्कृत गद्य काव्य में समासबहुल दीर्घवाक्य के कारण अन्वय भी क्रिया की कमी देखी जाती है।

(२) व्याकरण की अशुद्धियाँ—"विषयाणां पतिना" में 'पतिना' शब्द का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से गलत है। क्योंकि पति शब्द की समास ही में 'घि' संज्ञा होती है ("पतिः समास एव"—अष्टाध्यायी १।४।८)। इसीलिये समस्त पति' शब्द का ही रूप तृतीया विभक्ति में 'पतिना' ("आङो नाऽस्त्रियाम्"—अष्टाध्यायी १।३। १२०, घेः परस्य आङो ना स्यात् अस्त्रियाम्। 'आङ्' इति 'टा' संज्ञा प्राचाम्) है असमस्त में 'पत्या' ही होता है। पाणिनि से पूर्ववैदिक और पौराणिक भाषा में इस तरह की प्रवृत्ति पायी जाती है। अतः गद्य में भाषा की दृष्टि से पौराणिक शैली को अपनाया गया है।

इसी प्रकार कारक की अशुद्धि भी "अन्यत्र संग्रामेषु" में पायी जाती है। यहाँ पर कारक की दृष्टि से ("अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" अष्टाध्यायी २। ३। २९ इस सूत्र से "अन्य" शब्द के समस्यन्त रूप 'अन्यत्र' के योग में पचमी हो जायगी। अतः) 'अन्यत्र संग्रामेभ्यः' होना चाहिए।

साहित्यिक त्रुटि भी हमें "पर्जन्येन एकार्णवभूतायामिव पृथिव्याम् कृतायाम्" में मिलती है। क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग गद्यकाव्य में नहीं

गिरता है। साथ ही इसमे "भूनायाम्" के बाद पुन "कृतायाम्" यह शब्द भी अधिक प्रयुक्त हो गया है। अत 'अधिकपदता' दोष भी है।

'अतिभृशम् दुर्दर्शनम्', मे श्लेष अलकार का असफल प्रयोग करने का प्रयास किया गया है।

इस प्रकार इसमें बहुत से दोष भी पाये जाते हैं। इन गुण-दोषों की समालोचना के बाद भी यह अभिलेख अपनी शैली की प्रवाहपूर्ण रोचकता, भावप्रवणता और हृदयग्राहकता के कारण सहृदयो को एक लघु गद्यकाव्य का रसास्वादन कराता है। इस प्रकार सक्षेप मे इस अभिलेख की काव्यगत विशेषताओं की सूची इस प्रकार दी जा सकती है :—

(१) सम्पूर्ण अभिलेख गद्यशैली मे लिखा गया है।
(२) प्रधानतया वैदर्भी रीति की विशेषताओं का समावेश किया गया है।
(३) क्रियाओं का अत्यल्प प्रयोग हुआ है।
(४) साधारण शब्दों के माध्यम से ही विषय को समझाने का प्रयास किया गया है
(५) उद्देश्य साधारण है किन्तु फिर भी भाषा मे प्रवाह है।
(६) कवि की वर्णन-शक्ति और प्रतिभा का आभास मिल रहा है।
(७) अलंकारों मे शब्दालकार और अर्थालकारों का प्रयोग हुआ है। विशेषकर 'अनुप्रास' और 'उपमा'लकार का।
(८) अभिलेख के लेखक का नाम निर्दिष्ट नहीं है किन्तु शैली की विशिष्टता से उच्च कोटि का अनुमान होता है।
(९) प्रारम्भ से अन्त तक सरल और समासों का प्रयोग हुआ है।
(१०) अलकारशास्त्र पर प्रकाश पडता है।
(११) लघु गद्यकाव्य का नमूना है।

टिप्पणी

गिरिनगर—काठियावाड में आधुनिक नगर जूनागढ़ का प्राचीन नाम।

मीढविधान—डॉ० भगवान लाल, इन्दु जी तथा बूल्हर के मतानुसार मीढ़ का अर्थ 'गोमूत्र' है। किन्तु किल्हॉर्न के मतानुसार मीढ़विधान का अर्थ है—कोई ऐसी वस्तु जिससे जल का निकास हो। उनके अनुसार 'मीढ़' पाली के *'मील' का समानार्थक है, जिसका अर्थ गन्दगी होता है। इसी अर्थ में 'ललित-*

विस्तर' में 'मीढगिरि' गोबर के ढेर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहाँ पर मीढविधान का अर्थ यह प्रतीत होता है—झील के लिये ऐसा प्रबन्ध, जिससे उसमें गन्दगी न आ सके।

महक्षत्रप—शक राजाओं के प्रान्तीय शासकों की उपाधि। कालान्तर में शक राजागण स्वतन्त्र हो गये तथा हिन्दूधर्म को ग्रहण कर लिये। शिलालेखों एवं मुद्राओं के अतिरिक्त इस शब्द का उल्लेख संस्कृत-साहित्य में नहीं मिलता। इसका मूल-फारसी "क्षत्रप" (शासक) है। संस्कृत के कोषकार के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति 'क्षत्र पाति इति क्षत्रप' इस प्रकार की जाती है। प्रायः 'क्षत्रप' शब्द ईरानियों की उपाधि 'क्षत्रपावन' (प्रान्तीय शासक) से लिया गया मालूम पड़ता है।

क्षत्रप व्यवस्था में यह विशेषता पायी जाती थी कि—प्रत्येक प्रान्त में दो क्षत्रप हुआ करते थे। एक महाक्षत्रप और दूसरा क्षत्रप, जो प्रायः महाक्षत्रप का ही पुत्र और उत्तराधिकारी होता था। इनका सम्बन्ध बहुत कुछ उसी प्रकार का था, जैसा किसी प्रान्तीय अधिष्ठान का एक समय एक ही अथवा भिन्न स्थानों से शासन करनेवाले राजा और युवराज का। भारत के भिन्न प्रदेशों में ऐसे कई शकक्षत्रप-राजवंश थे जिन्हें सुविधानुसार दो भागों में बाँटा जा सकता है।

१—तक्षशिला और मथुरा के उत्तरी क्षत्रप।

२—तथा महाराष्ट्र और उज्जैन के पश्चिमी क्षत्रप।

महाक्षत्रप रुद्रदामन का सम्बन्ध उज्जैन के पश्चिम क्षत्रपों से था।

तुषास्फ—स्वरूप की दृष्टि से तो यह शब्द फारसी जान पड़ता है। किन्तु यह कोई यूनानी शासक था, जिसने फारसी नाम या उपाधि ग्रहण कर ली थी। सम्भवतः यह अशोक की कर देने वाला शासक रहा होगा।

पाली—तटबन्ध।

सेतुबन्ध—बाँध की बनावट।

प्रणाली—पानी बहाने की नाली।

राष्ट्रिय—जिला या प्रान्त का शासक (राष्ट्रम् अधिकृत राष्ट्रियः)।

आकरावन्ति—डॉ० भंडारकर के अनुसार यह एक ही शब्द है। इसका अर्थ है मालवा। क्योंकि इसका विशेषण 'पूर्वापर' है जिससे पूर्वी और पश्चिमी का बोध होता है। न कि भगवान लाल, इन्दु जी और रैप्सन के मतानुसार पूर्वी आकर तथा पश्चिमी अवन्ति।

अवन्ति उज्जैनी का दूसरा नाम है। आकर सम्भवतः प्राचीन नगर "आगर" (उज्जैनी से उत्तर-पूर्व ४० मील) है। वहाँ से अगरवाल वैश्य उत्पन्न कहे जाते हैं।

अनूप—नर्मदा नदी के मुहाने का प्रदेश जिसकी राजधानी माहिष्मती थी, जो मध्य प्रदेश के आधुनिक मान्धाता से अभिन्न मानी जाती है।

नीवृत्—इस स्थान का ठीक पता नहीं है, किन्तु सम्भवतः यह निमार, मन्दसा और उत्तरी गुजरात के बीच का प्रदेश, जिसमें आधुनिक 'बाँसवाड़ा' डूंगरपुर और अन्य छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित थे, हो सकता है। "नीवृज्जन-पदो देश" (अमरकोष)।

आनर्त—आधुनिक गुजरात का उत्तरी भाग, जिसका मुख्य नगर आनर्त-पुर या आनन्दपुर (वर्तमान बड़ौदा राज्य के कादी प्रान्त में वाड नगर) था। कुछ लोगों के अनुसार उत्तरी काठियावाड़, जिसकी राजधानी द्वारका थी, उससे इसकी एकता की गयी है।

श्वभ्र—रैप्सन के मतानुसार साबरमती के किनारे का प्रदेश अर्थात् गुजरात। तब आनर्त और सौराष्ट्र का अर्थ उत्तरी और दक्षिणी काठिया-वाड़ होगा।

सौवीर—कुछ विद्वान् सिन्धु-सौवीर को एक ही शब्द मानकर सिन्ध और मुल्तान के प्रदेश को समझते हैं।

कुकुर—डॉ॰ रामकृष्ण भंडारकर के मतानुसार राजपूताना का वह भाग जिसे ह्वेनसांग ने कि-चे-लो कहा है। डा॰ भगवान् लाल और इन्दुजी के मतानुसार पूर्वी राजस्थान। डॉ॰ आर॰ भण्डारकर के मत से आधुनिक गुजरात, जो गौतमी-पुत्र के नासिकवाले गुहालेख के अनुसार अपरान्त से अभिन्न है।

अपरान्त—गौतमीपुत्र और पुलुमावि के समकालीन राम के ज्योतिषी टालेमी के अनुसार अपरान्त चार भागों में बँटा था। दो समुद्र के किनारे वर्तमान थाना और कोलाबा में तथा दो रत्नगिरि और उत्तर कनाडा जिलों से सबद्ध थे। आन्तरिक भागों में गोदावरी के ऊपरी भाग से सिंचित प्रदेश तथा बम्बई के कन्नड़ भाषी जिले सम्मिलित थे। महाभारत तथा मार्कण्डेय पुराण में भी इसी सम्पूर्ण भू-भाग का नाम अपरान्त कहा गया है। किन्तु रुद्रदामन् द्वारा अधिकृत अपरान्त में माही तथा दमनगंगा के बीच का प्रान्त जान पड़ता है, क्योंकि उन दिनों उत्तरी कोंकण आन्ध्र राजाओं के अधिकार में था।

यौधेय—ये लडाकू जातियाँ थी, जिनका उल्लेख वैयाकरण पाणिनि ने भी किया है। यौधेय लोग बहावल्पुर राज्य के आसपास रहते थे। मालवों के समान इनका भी गणराज्य था। "यौधेयगणस्य जय" इससे अङ्कित अनेक गोल ताम्रमुद्रायें गुप्ताक्षरों मे अंकित तृतीय शताब्दी मे पायी गयी हैं।

इस जाति को समुद्रगुप्त ने भी पराजित किया था। देखिये भरतपुर राज्य के विजयगढ नामक स्थान पर तृतीय शताब्दी का किसी यौधेय राजा का प्राप्त एक खण्डित शिलालेख।

पह्लव—किसी के मत से पह्लव लोग फारस से आने वाले थे जो बाद मे बौद्ध हो गये किन्तु अन्य मत से ये भारत के आदि-निवासी थे जो पहले उत्तरी भारत के उस प्रान्त मे रहते थे, जिस पर आन्ध्रवंश का शासन था, किन्तु आन्ध्र-भृत्यों द्वारा निष्कासित होकर वे कांजीवरम के पास बस गये और उन्होंने यशस्वी पल्लव वंश की स्थापना की।

सुराष्ट्र—दक्षिण काठियावाड, जिसकी राजधानी गिरिनगर है।

मरु—मारवाड, राजपूताने का रेगिस्तान।

निषाद—पश्चिमी विन्ध्य और अरावली की पहाडियाँ।

यथार्थहस्तोच्छ्रय—

"तत्रासीनः स्थितो वाऽपि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
विनीतवेषाभरणः पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम्॥

(मनु० ८–२)

विष्टि—बेगार

प्रणयक्रिया— श्रमदान अथवा उपहार।

(२) महाराजचन्द्रस्य मेहरौली-लौहस्तम्भलेखः

यस्योद्वर्तयत प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्
वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिण ॥ १ ॥

बंगाल प्रदेश में एक साथ मिलकर आक्रमण करने के लिये आये हुए शत्रुओं को समर-भूमि में वक्षस्थल के बल पीछे ढकेलते हुए जिस (चन्द्र) की भुजा पर तलवार से यश लिखा गया अर्थात् दुश्मनों की तलवार के प्रहार से लगी घाव जिसकी भुजा पर कीर्ति पंक्ति के समान लग रही थी। जिसने सिन्धु नदी की सात धाराओं को पार कर वाह्लीक देश को जीता। जिसके प्रतापरूपी पवन से दक्षिण समुद्र आज भी सुशोभित हो रहा है ॥ १ ॥

खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां
मूर्त्या कर्मजितावनीं गतवत कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ
शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महा-
न्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥ २ ॥

जो बहुत दिनों तक पृथ्वी के भार को वहन करते-करते थके हुए के समान उसे छोड़कर दूसरे लोक अर्थात् स्वर्ग चला गया है। जो पार्थिव शरीर से अपने सुकर्मों द्वारा स्वर्गलोक को जीतने के बाद वहाँ पहुँचकर भी अपने यश शरीर से पृथ्वी पर निवास करता है। विशाल कानन में शान्त हुई दावाग्नि के समान शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले जिस (चन्द्र) के प्रयत्नों का स्मारक रूप महान् प्रताप आज भी इस भूमण्डल को नहीं छोड़ता है ॥ २ ॥

प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता।
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिं
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापित ॥ ३ ॥

जिसने इस वसुधरा पर अपने भुजबल से उपार्जित एकाधिपत्य का बहुत दिनों तक उपभोग किया, पूर्णचन्द्र के समान अपनी मुख-श्री का धारण करनेवाले और 'चन्द्र' नाम से प्रसिद्ध उस शुद्ध हृदय राजा ने विष्णु भगवान् में श्रद्धा रखकर 'विष्णुपद' नाम के पर्वत पर भगवान् विष्णु की इस उन्नत ध्वजा की स्थापना की ॥ ३ ॥

अभिलेख का ऐतिहासिक महत्त्व

दिल्ली से ९ मील दक्षिण महरौली नाम के एक गाँव में विद्यमान एक लौह-स्तम्भ पर यह अभिलेख उत्कीर्ण है। इसमें विशुद्ध संस्कृत छन्दों तथा पाँचवीं शदी ई० की गुप्तकालीन वर्णमाला में 'चन्द्र' नाम के किसी सम्राट् का विजय-यात्रा का वृत्तान्त मिलता है। अभिलेख में तिथि तथा 'चन्द्र' राजा के वंश का उल्लेख नहीं होने के कारण पुरातत्त्ववेत्ताओं में काफी मतभेद है कि प्रशस्ति का दिग्विजेता 'चन्द्र' कौन है? इस लघु लेख से केवल मुख्य रूप से इतना ही बातों का संकेत मिलता है कि 'चन्द्र' नामक किसी राजा ने बङ्गाल में शत्रुओं को पराजित किया और सिन्धु के सात मुखों अथवा सप्त-शाखाओं को पार कर वाह्लिकों पर आक्रमण करके उन्हें भी परास्त किया और अपने बाहुबल से पृथ्वी का 'एकाधिपत्य' प्राप्त करके दीर्घकाल तक उसका उपभोग किया। अभिलेख के 'खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतराम्' इस द्वितीय श्लोक से 'चन्द्र' के निधनोपरान्त उत्कीर्ण किए जाने का अनुमान किया जाता है। अभिलेख का उद्देश्य विष्णुपद नाम के पर्वत पर, जो सम्भवतः दिल्ली की पहाड़ी का नाम था विष्णुध्वज की स्थापना की स्मृति कराना था।

अभिलेख में निर्दिष्ट चन्द्र के निर्धारण में मुख्यतः ऐतिहासिकों के निम्नलिखित विचार दृष्टिगोचर होते हैं।

(क) "चन्द्र" = गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम।

इस अभिलेख के 'चन्द्र' से गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम के समीकरण में आर० जी० बसाक, पलीट तथा डॉक्टर कृष्णस्वामी आयंगर का मत है कि गुप्त साम्राज्य का सर्वप्रथम महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम था। अभिलेख में वर्णित "प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ" यह उक्ति इसकी पुष्टि में पर्याप्त है। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में बंगाल का निर्देश नहीं होने का उपयोग वे लोग इस तरह करते हैं कि—चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही बंगाल आदि को जीत लिया था, जिससे समुद्रगुप्त को उसको जीतने की जरूरत नहीं पड़ी।

फ्लीट महोदय का इस एकीकरण में यह तर्क है कि इस अभिलेख की लिखावट प्रयाग की प्रशस्ति से पूर्व की प्रतीत होती है।

किन्तु उपर्युक्त विचारधाराओं की आलोचना इस प्रकार की जाती है :—

गुप्तकालीन लेख तथा सिक्कों के आधार पर यह निश्चित रूप में ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्यकाल स्वल्प ही था (सम्वत्. ई० ३२० से ३३५ ई०)। इसलिये प्रस्तुत अभिलेख के 'एकाधिकाराज्य' का चन्द्रगुप्त प्रथम के लिए प्रयोग सम्भव नहीं जान पड़ता। "समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने बंगाल, दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम भारत पर विजय प्राप्त किया था" इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। वस्तुतः सर्वप्रथम विजय-यात्रा करने का श्रेय तो समुद्रगुप्त को ही मिला है। पुराणों में वर्णित 'अनुगङ्गं प्रयाग च' से तथा प्रयाग-प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के पिता का राज्य पाटलिपुत्र से प्रयाग के बीच गङ्गा की घाटी में सीमित था। अभिलेख का 'चन्द्र' सिन्धु नदी को पार कर वाह्लीक को भी पराजित करने वाला है। अतः इस समीकरण में चन्द्रगुप्त प्रथम की अधिकार-सीमा सिन्धु तक मानना पड़ेगा किन्तु इस बात के कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं। अतः इस अभिलेख के 'चन्द्र' की समता चन्द्रगुप्त प्रथम से करना सर्वथा असंगत है।

(ख) पण्डित हरप्रसाद शास्त्री और राखाल दास बैनर्जी इस अभिलेख के 'चन्द्र' को बंगाल में रानीगंज के पास स्थित सुसुनियाँ शिलालेख का चन्द्रवर्मन मानते हैं, किन्तु इस समीकरण में तथ्यपूर्ण प्रमाण नहीं है, अतः यह भी संशयपूर्ण ही है। सुसुनियाँ शिलालेख के चन्द्रवर्मन के विषय में विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि इसकी समता प्रयाग-स्तम्भ में निर्दिष्ट चन्द्रवर्मन से है जो आर्यावर्त के अन्यान्य शासकों के साथ समुद्रगुप्त द्वारा पराजित हुआ था। साथ ही सुसुनियाँ के शिलालेख में चन्द्रवर्मन 'महाराजा' कहा गया है, जब कि मेहरौली में 'चन्द्र' के लिये 'अधिराज' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः अभिलेख के 'चन्द्र' की समता चन्द्रवर्मन से सम्भव नहीं।

(ग) विन्सेण्ट स्मिथ, दाण्डेकर और दिनेशचन्द्र सरकार प्रभृति विद्वान् 'चन्द्र' को निश्चित रूप से गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य मानते हैं। इस समीकरण में निम्नलिखित बातों को प्रमाण कोटि में लाया जाता है :—

(१) चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाम अथवा उपनाम केवल 'चन्द्र' के रूप में उसके धनुर्धारी के सिक्कों में भी मिलता है। जिस प्रकार विक्रमादित्य के लिये विक्रम

सिर उठाया हो, जिसको शान्त करना चन्द्रगुप्त द्वितीय को आवश्यक हो गया होगा, जिसका उल्लेख इस अभिलेख में मिलता है।

इन पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत अभिलेख के 'चन्द्र' की समता गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से ही करना न्यायसंगत प्रतीत होता है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के निधनोपरान्त अभिलेख के उत्कीर्ण होने का स्पष्ट संकेत मिलने से डॉक्टर सरकार का यह अनुमान बिल्कुल सही जान पड़ता है कि स्तम्भ सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने जीवन-काल की अन्तिम वेला में गड़वाया था और उस पर अपने पिता के दिवंगत होते ही कुमारगुप्त प्रथम ने लेख उत्कीर्ण करा दिया।

अस्तु, उपर्युक्त प्रमाणों आधार पर चन्द्रगुप्त और 'चन्द्र' के समीकरण की सम्पुष्टता से इस अभिलेख के द्वारा दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य निकल पड़ते हैं :—

(१) बंगाल ने जो भारत के दीर्घकालीन इतिहास में निरन्तर विद्रोह का एक स्वाभाविक स्थान रहा है, चन्द्रगुप्त द्वितीय के विरुद्ध अपना सिर उठाया था किन्तु उसके द्वारा कुचल दिया गया।

(२) चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में शकों और कुषाणों की बची-खुची शक्ति को नष्ट कर दिया जिसे समुद्रगुप्त अंशतः ही नष्ट कर सका था। 'एलेन' के अनुसार वाह्लीकों का प्रयोग सामान्यतया विदेशी आक्रमणकारियों के अर्थ में किया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा विष्णुपद पर्वत पर विष्णुध्वज को प्रतिष्ठित करने का रहस्य इस ऐतिहासिक तथ्य से भी सम्बन्धित जान पड़ता है कि जब रामगुप्त शकों के द्वारा कहीं हिमालय दुर्ग में घेर लिया गया और फलस्वरूप अपनी महारानी ध्रुवदेवी को समर्पण कर अपनी जान बचाने की बात स्वीकार की तो इस अपमान को सहन नहीं कर रामगुप्त का छोटा भाई 'चन्द्रगुप्त' द्वितीय ध्रुवदेवी के वेश में सैनिकों सहित शक शिविर में गया और वहाँ पर अपने छद्मवेशी सहचरों के साथ शकराज को मारकर अन्य वंक्षु नदी तटवासी शकराजों को पराजित किया। सम्भवतः जिस हिमालय दुर्ग में 'चन्द्रगुप्त' ने सर्वप्रथम शकराज की हत्या की वहीं विष्णुपद नामक पर्वत है अतः वहीं पर अपनी इस विजय के स्मारक के रूप में विष्णु ध्वज की प्रतिष्ठा की होगी।

अभिलेख का साहित्यिक महत्त्व

यद्यपि इस लघुकाय अभिलेख में किसी साहित्यिक वैशिष्ट्य का अन्वेषण तो प्रयाससाध्य ही होगा तथापि 'यदुपलब्ध तदेव सम्भावनीयम्' इस न्याय से इसके उस अश का भी विवेचन अपेक्षित ही है। केवल तीन श्लोकों में कवि ने शार्दूलविक्रीडित छन्द में 'चन्द्र' की विजय-यात्रा का वर्णन किया है। यह छन्द सस्कृत पद्य-गगा का वह सेतु है जिसके सहारे किसी भी भाव या रस को उतारा जा सकता है। इस प्रशस्ति का अज्ञात कवि राजविषयक अपने रतिभाव को इस छन्द के माध्यम से व्यक्त करने में सफल नजर आता है।

जहाँ तक अलकारों का प्रश्न है उसमें यद्यपि कवि की विशेष रुचि नहीं प्रतीत होती फिर भी तीनों पद्यों में रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा जैसे अर्थालकारों की हलकी मनोरम झाँकी तो मिल ही जाती है। प्रथम श्लोक में कवि ने राजा के पराक्रम पर वायु का आरोप किया है 'वीर्यानिलैर्दक्षिण'। इसी प्रकार दूसरे श्लोक में "खिन्नस्येव विसृज्य गा नरपतेः" इस उक्ति में राजा के दिवगत होने की कवि इस प्रकार उत्प्रेक्षा करता है मानो पृथिवी का भार सहन करते-करते थक कर दूसरी भूमि को (स्वर्ग को) चला गया है। इसी श्लोक में "शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्" इस तृतीय चरण में कवि ने राजा के क्रोध से शान्त हुए शत्रुओं की उपमा महावन की उस आग से दी है जो उसे जला कर शान्त हो जाती है। यहाँ पर राजा के क्रोध की उपमा दवाग्नि से भी दी जा सकती है। इस प्रकार इस श्लोक में उपमा और उत्प्रेक्षा की ससृष्टि देखने ही योग्य है। अन्तिम श्लोक में भी "समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता" में राजा के मुख की शोभा की उपमा पूर्ण चन्द्रमा से दी गयी है। इस प्रकार कवि अलकार-योजना का निर्वाह कर अलकार-शास्त्र की भक्ति का भी परिचय देता नजर आता है। जहाँ तक गुण और रीति की बात है उसमें कवि प्रसाद गुण और पाञ्चाली रीति के छोरों को छूता हुआ नजर आता है। दिग्विजय का वर्णन-प्रसग होने पर भी कवि ने सरल तथा असमस्त या लघु पदों का प्रयोग कर पद्य को प्रवाहमय बनाने का सफल प्रयास किया है। राजा का पुण्यकर्म के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करके भी यश.शरीर से पृथिवी पर विद्यमान रहना और शत्रु को विनाश के गर्त में ढकेल कर भी उसके प्रताप का उसके कृत्यों के स्मारक रूप में पृथिवी को नहीं छोड़ना, ये दोनों उक्ति-वैचित्र्य सहृदय के मानस-तल को छू सा लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस छोटे से काव्य कलेवर

मे भी कवि ने अपनी काव्यप्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया है। केवल अभिलेख के अन्तिम भाग में 'प्रानु:' के स्थान मे 'प्रान्शु' यह पाठ चिन्तनीय है क्योंकि नकार के स्थान में अनुस्वार को ही औचित्य प्राप्त है। प्रांशु का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—प्रकृष्टा अंशवो यस्य असौ प्रांशुः। यहाँ पर अंशु शब्द अवयव-वाची है। हो सकता है कि अपने मूल रूप मे अनुस्वार का ही पाठ रहा हो बाद में यान्त्रिक या अन्य किसी कारण से नकार का पाठ हो गया है।

टिप्पणी

वाह्लिका.—इतिहास-वेत्ताओ मे इस शब्द के उच्चारण में मतभेद हैं। कुछ लोग 'वाह्लीक' कुछ 'बाह्लीक' और कुछ 'वाह्लिक' कहते हैं। कुछ लोगो का मत है कि मूल रूप मे 'वाह्लिक' नही वाह्लीक' पाठ है किन्तु इस श्लोक म छन्द के अनुरोध से ह्रस्व होकर 'वाह्लिक' हो गया है। यही युक्तिसंगत जान पड़ता है।

कुछ ऐतिहासिक 'वाह्लीक' शब्द का अर्थ आधुनिक 'बल्ख' देश का प्राचीन नाम करते हैं तो कुछ लोग पजाब के रहनेवाले जाति विशेष, जिनका निवास-स्थान आधुनिक बैक्ट्रिया या बल्ख करते हैं। यही मत उचित प्रतीत होता है। देखिये—

> "पञ्चानां सिन्धुषष्ठाना नदीना येऽन्तरे स्थिताः।
> तान् धर्मबाह्यानशुचीन् वाह्लीकानपि वर्जयेत् ॥"
>
> (महाभारत)

सिन्धोः सप्तमुखानि—क्योंकि निम्नलिखित सात नदियो के मार्ग से समुद्र जल का आधान करता है, अतः मुँह के समान होने से इन्हे 'मुखानि' कहा गया है।

इन सातो के ये नाम हैं—शतद्रु, विपाशा, इरावती, चन्द्रभागा, वितस्ता, सिन्धु और कुम्भ।

दक्षिणः जलनिधिः—इस शब्द से कुमारी तीर्थ और सिंहलद्वीप से दक्षिण के सागर को, जिसे आजकल भारतीय महासागर कहा जाता है, संकेतित किया गया है।

सुचिरं—इस शब्द से यह ध्वनित होता है कि—विस्तृत साम्राज्य को प्राप्त करने के लिये दीर्घकाल तक आघात करना पड़ा। चन्द्रगुप्त प्रथम को वाकाटकों के विरुद्ध बड़े लम्बे समय तक मोर्चा लेना पड़ा था। इन वाकाटकों की शक्ति बड़ी तेजी से पश्चिम में बढ़ती जा रही थी, सम्भवतः साम्राज्य-विस्तार के आकांक्षी क्षत्रपों के राजपुरुषों की प्रतियोगिता में।

धावेन—कुछ लोग इसके स्थान में 'भावेन' पढ़ते हैं किन्तु प्रामाणिक पुरातत्त्ववेत्ता लोग "धावेन" को ही सही मानते हैं। "धाव" शब्द के भी दो अर्थ किये जाते हैं—कुछ विद्वान् तो इसे महाराज 'चन्द्र' का दूसरा नाम कहते हैं। किन्तु डाक्टर आयंगर इसका अर्थ करते हैं। "पवित्र विचारवाला" और इसे 'भूमिपतिना' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त मानते हैं। यही मत युक्तियुक्त भी है।

विष्णुपदे गिरौ—भगवान् विष्णु के पदचिह्नों से अंकित पर्वत पर। यह स्थान कुरुक्षेत्र के समीप ही है। देखिये—

"एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्।
एषा नदी विपाशा च नदी परमपावनी"॥ (महाभारत)



(३) कुमारगुप्तस्य मन्दसौर (दशपुर) शिलालेखः

(मालव संवत् ५२९)

सिद्धम् ।

यो वृत्त्यर्थमुपास्यते सुरगणैः सिद्धैश्च सिद्ध्यर्थिभि-
र्ध्यानैकाग्रपरैर्विधेयविषयैर्मोक्षार्थिभिर्योगिभिः ।
भक्त्या तीव्रतपोधनैश्च मुनिभि शापप्रसादक्षमै-
र्हेतुर्यो जगतः क्षयाभ्युदययो पायात् स वो भास्कर ॥ १ ॥

सिद्धि हो ।

भगवान सूर्य आप लोगों की रक्षा करें, जो ससार के उदय और अस्त के कारण हैं, जो देव-समूह, यौगिक सिद्धि के अभिलाषी सिद्ध-गण, निरन्तर ध्यान-मग्न सयमी और मोक्षार्थी योगि-गण, वरदान और शाप देने मे समर्थ कठोर तपस्या करने वाले मुनि-गण, के द्वारा भक्तिपूर्वक पूजित होते है ॥ १ ॥

तत्त्वज्ञानविदोऽपि यस्य न विदुर्ब्रह्मर्षयोऽभ्युद्यता.
कृत्स्नं यश्च गभस्तिभि. प्रविसृतै पुष्णाति लोकत्रयम् ।
गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरनरैः सस्तूयतेऽभ्युत्थितो
भक्तेभ्यश्च ददाति योऽभिलषित तस्मै सवित्रे नमः ॥ २ ॥

उस सूर्यदेव को नमस्कार है, जिनके वास्तविक स्वरूप को तत्त्वज्ञान को जाननेवाले और साधना मे तत्पर ब्रह्मर्षि गण भी समझने में असमर्थ हैं, जो अपनी फैली हुई किरणों से समस्त त्रैलोक्य का पोषण करते हैं, जो उदित होते ही गन्धर्व, देवता, किन्नर, सिद्ध और मनुष्यों के द्वारा प्रशंसित होते हैं और जो अपने भक्तों के मनोरथ को पूर्ण करते हैं ॥ २ ॥

यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र-
विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः ।
क्षीवाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः १
पायात्स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान् ॥ ३ ॥

विलोलवीचीचलितारविन्दपतद्रजःपिञ्जरितैश्च हंसैः ।
स्वकेसरोदारभरावभुग्नैः क्वचित्सरांस्यम्बुरुहैश्च भान्ति ॥ ८ ॥

और कहीं चंचल लहरों से कम्पित कमल के झड़े हुए पराग से पीतवर्ण-रंगे हंसों से और अपने पराग के पूर्णभार से नम्रीभूत कमलों से सरोवर सुशोभित हैं ॥ ८ ॥

स्वपुष्पभारावनतैर्नगेन्द्रैर्मदप्रगल्भालिकुलस्वनैश्च ।
अजस्रगाभिश्च पुराङ्गनाभिर्वनानि यस्मिन् समलङ्कृतानि ॥ ९ ॥

जिस मालव देश के दशपुर नगर के उपवन-प्रसूनपुञ्ज से अवनत तरुवर, उन्मत्त मधुपों के गुञ्जन तथा निरन्तर सचरणशील पुरनारियों से अलंकृत हैं ॥९॥

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥ १० ॥

जिस दशपुर के भवन—फहराते हुए झंडा से, कोमलाङ्गी ललनाओं से, और ऊँचे-ऊँचे श्वेत शिखरों से ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो विद्युल्लता की दीप्ति से रंग विरंगे बने हुए श्वेत मेघ के टुकड़े हों ॥ १० ॥

कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्या-
न्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि ।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्र-
कर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि ॥ ११ ॥

जिस दशपुर के भवन—कैलाश पर्वत के गगनचुम्बी शिखरों के समान बड़े ऊँचे-ऊँचे छज्जों चबूतरों तथा सुन्दर चित्रों से सुशोभित थे, और जिन भवनों के गीतोद्यान लहलहाते कदली-द्रुमों से शोभायमान थे ॥ ११ ॥

प्रासादमालाभिरलङ्कृतानि धरां विदार्येव समुत्थितानि ।
विमानमालासदृशानि यत्र गृहाणि पूर्णेन्दुकरामलानि ॥ १२ ॥

यहाँ के भवन पूर्ण चन्द्र की किरणों के सदृश स्वच्छ हैं, और मंजिलों की परम्परा से अलकृत ऐसे लक्षित हो रहे हैं मानो पृथ्वी को फाड़कर ऊपर उठ आये हुए विमानों की पंक्ति हों ॥ १२ ॥

यद्भात्यभिरम्यसरिद्द्वयेन चपलोर्मिणा समुपगूढम् ।
रहसि कुचशालिनीभ्यां प्रीतिरतिभ्यां स्मराङ्गमिव ॥ १३ ॥

चंचल लहरोंवाली दो नदियों से घिरा हुआ वह नगर ऐसा लग रहा मानो उरोज वाहिनी प्रीति और रति नाम की दोनों स्त्रियों से एकान्त में आलिङ्गित होता हुआ कामदेव का शरीर हो ॥ १३ ॥

सत्यक्षमादमशमव्रतशौचधैर्य-
स्वाध्यायवृत्तविनयस्थितिबुद्धिवृद्धैः ।
विद्यातपोनिधिभिरस्मयिनैश्च विप्रै-
र्यद् भ्राजते ग्रहगणैः खमिव प्रदीप्तैः ॥ १४ ॥

सच्चाई, सहनशीलता, दमन, शान्ति, नियम, पवित्रता, धीरता, स्वाध्याय, सरलता, विनयशीलता, स्थिरता और तीव्र बुद्धि आदि गुणों से युक्त, विद्या तप के धनी, अभिमान-रहित ब्राह्मणों से परिपूर्ण यह नगर चमकते हुए नक्षत्रों से भरपूर आकाश के समान हो रहा है । १४ ॥

अथ समेत्य निरन्तरसंगतैरहरहः प्रविजृम्भितसौहृदाः ।
नृपतिभिस्सुतवद् प्रतिमानिता प्रमुदितान्यवसन्त सुखं पुरे ॥ १५ ॥

इसके बाद, अनवरत पारस्परिक सम्पर्क के कारण दिनानुदिन बढ़ती हुई मित्रता से युक्त और राजाओं द्वारा पुत्र के सदृश सम्मानित अत एव प्रसन्नचित्त, शिल्पीगण सुखपूर्वक उस नगर में रहने लगे ॥ १५ ॥

श्रवणसुभगे गान्धर्वेऽन्ये दृढ परिनिष्ठिताः
सुचरितमनोज्ञाः केचिद्विचित्रकथाविदः ।
विनयनिभृता सम्यग्धर्मप्रसङ्गपरायणाः
प्रियमधुरपथ्यं चान्ये क्षमा वहु नापिनुन् ॥ १६ ॥

उन शिल्पियों में से कुछ लोग कानों को सुख पहुँचाने वाली संगीत विद्या में पूर्ण रूप से निपुण थे, कुछ लोग अत्यन्त सुन्दर चरितों वाली विचित्र कथाओं के जानकार थे, कुछ लोग विनीत अत एव शान्त स्वभाव के थे, कुछ लोग यथार्थ धार्मिक प्रसंगों में प्रवीण थे और दूसरे लोग सुखद, कोमल और हितकारी वचन बोलने में अति समर्थ थे ॥ १६ ॥

केचित्त्वकर्मण्यधिकाविधानैर्विज्ञायते ज्योतिषमारभवद्भिः ।
यथापि चान्ये मनसङ्गताः कुर्वन्त्ययोगानहितं प्रसह्य ॥ १७ ॥

इनमें से कुछ शिल्पी रेशम बुनने के अपने व्यवसाय में विख्यात थे, कुछ

न-संयमी लोग ज्योतिष-शास्त्र के मर्मज्ञ थे और रणभूमि मे धैर्यशाली कुछ
ग हटकर शत्रुओं का संहार करते थे ॥ १७ ॥

ज्ञा मनोज्ञवपुषः प्रथितोरुवंशा वंशानुरूप चरिताभरणास्तथान्ये ।
न्धव्रताः प्रणयिनामुपकारदक्षा विश्रम्भपूर्वमपरे दृढसौहृदाश्च ॥ १८॥

उनमें से कुछ लोग बुद्धिमान्, सुन्दर शरीर वाले, विख्यात और उच्चकुल
ले, कुल के अनुकूल आचरण रूपी अलंकार वाले, सत्यपरायण, प्रेमियों के
कार में कुशल और विश्वासपूर्वक दृढता से मित्रता को निभाने वाले थे ॥१८॥

जितविषयसङ्गैर्धर्मशीलैस्तथान्यैर्मृदुभिरधिकसत्त्वैर्लोकयात्रामरैश्च ।
कुलतिलकभूतैर्मुक्तरागैरुदारैरधिकमभिविभाति श्रेणिरेव प्रकारै[1] ॥१९॥

इस प्रकार उन शिल्पियों का समूह—सांसारिक विषयों को जीतने वाले
र्मा, कोमल स्वभाववाले, अत्यधिक शक्तिशाली लोक व्यवहार मे देवता के
न, अपने कुल मे तिलक स्वरूप, वासना से रहित और उदार प्रकृति के लोगों
अत्यधिक सुशोभित था ॥ १९ ॥

तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहार-
ताम्बूलपुष्पविधिना समलङ्कृतोऽपि ।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्या-
यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते ॥ २० ॥

युवत्व प्रयुक्त सौन्दर्य से सम्पन्न होने पर भी, सोने के हार, ताम्बूल और
आभरणों से प्रसाधित होने पर भी वहाँ की ललनायें तब तक परम शोभा को
हीं प्राप्त करतीं जब तक रेशम के युगल वसनों का परिधान नहीं कर
ती थीं ॥ २० ॥

स्पर्शवता वर्णान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन ।
यैः सकलमिदं क्षितितलमलङ्कृतं पट्टवस्त्रेण ॥ २१ ॥

उन शिल्पियों ने छूने में मुलायम, भिन्न-भिन्न रंगों के समुचित विभाग से

१. लाट देश के रेशम बुनकर, जो दशपुर के राजा के गुणों और नगर
की रमणीयता पर मुग्ध होकर वहाँ चले आये थे और अनेक प्रकार के व्यवसाय
में व्यस्त हो गये थे। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय जातिगत
व्यवसाय की परम्परा दृढ़ नहीं हो पाती थी।

अद्भुत और नेत्रों को आनन्दित करने वाले रेशमी वस्त्रों से इस सम्पूर्ण पृथ्वी को सुसज्जित कर दिया था ॥ २१ ॥

विद्याधरीरुचिरपल्लवकर्णपूरवातेरितास्थिरतरं प्रविचिन्त्य लोकम् ।
मानुष्यमर्थनिचयांश्च तथा विशालांस्तेषां शुभा मतिरभूदचला ततस्तु ॥२२॥

विद्याधरियों के सुन्दर, पल्लवनिर्मित और वायु-प्रेरित अत एव चञ्चल कर्णाभूषण के समान इस मर्त्यलोक को क्षणभंगुर समझ कर और अपने धन समूह को विशाल मानकर उन शिल्पियों ने अपने मन में हितकारी और दृढ़ निश्चय (सूर्यमन्दिर निर्माण करने का) कर लिया ॥ २२ ॥

चतुःसमुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥ २३ ॥

चारों समुद्रों के तट ही जिसकी चचल करधनी, सुमेरु और कैलाश ही उन्नत उरोज हैं, विपिन पथों में गिरे हुए विकसित सुमन-समूह ही जिसके हास हैं, उस वसुन्धरा (भारतवर्ष) पर जब कुमारगुप्त प्रशासन कर रहे थे (उन्होंने 'विश्ववर्मा' को राज्यपाल बनाया" अग्रिम श्लोक से सम्बन्ध-) ॥ २३ ॥

समानधीः शुक्रबृहस्पतिभ्यां ललामभूतो भुवि पार्थिवानाम् ।
रणेषु यः पार्थसमानकर्मा बभूव गोप्ता नृपविश्ववर्मा[1] ॥ २४ ॥

(कुमारगुप्त के राज्यकाल में) राजा विश्ववर्मा "राज्यपाल" नियुक्त किया गया । वह विश्ववर्मा बुद्धि में शुक्राचार्य और बृहस्पति के समान था, पृथ्वी भर के राजाओं में शिरोभूषण के समान था और समरभूमि में पार्थ के समान था ॥ २४ ॥

दीनानुकम्पनपरः कृपणार्तवर्गसान्त्वप्रदोऽधिकदयालुरनाथनाथः ।
कल्पद्रुमः प्रणयिनामभयप्रदश्च भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत् ॥२५॥

वह विश्ववर्मा—दीनों पर दया करने वाला, दरिद्र अत एव दुखी लोगों को सान्त्वना प्रदान करने वाला, असाधारण दयालु, अनाश्रितों को आश्रय देने वाला मित्रों के लिये कल्पवृक्ष के समान, भयभीत लोगों को अभय-दान देने वाला और प्रजा-जनों में भ्रातृ-भाव रखने वाला था ॥ २५ ॥

---

१. सम्राट् कुमारगुप्त के राज्यकाल में नृप विश्ववर्मा मन्दसौर का स्थानीय शासक था ।

तस्यात्मजः स्थैर्यनयोपपन्नो बन्धुप्रियो बन्धुरिव प्रजानाम्।
बन्ध्वार्तिहर्ता नृपबन्धुवर्मा, द्विड्दृप्तपक्षक्षपणैकदक्षः॥ २६॥

उसका लड़का राजा बन्धुवर्मा हुआ। वह दृढ़ एवं नीतिमान् था, बन्धुवर्ग का प्रियपात्र था, प्रजाजनों के लिए भाई के समान था सम्बद्ध लोगों के दुःखों को दूर करने वाला था और शत्रुओं एवं अहङ्कारियों के समुदाय का संहार करने में अद्वितीय निपुण था॥ २६॥

कान्तो युवा रणपटुर्विनयान्वितश्च
राजाऽपि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः।
शृङ्गारमूर्तिरभिभात्यनलंकृतोऽपि
रूपेण यः कुसुमचाप इव द्वितीयः॥ २७॥

वह (बन्धुवर्मा) अभिराम, तरुण, युद्धनिपुण और विनीत था, सर्वसंपन्न शासक होता हुआ भी अहङ्कार आदि दुर्गुणों से रहित था, आभूषणों के अभाव में भी शृङ्गार की साक्षात् प्रतिमा के समान शोभित हो रहा था अत एव सौन्दर्य में मानो दूसरा कामदेव ही था॥ २७॥

वैधव्यतीव्रव्यसनक्षतानां स्मृत्वा यमद्याप्यरिसुन्दरीणाम्।
भयाद् भवत्यायतलोचनानां घनस्तनायासकरः प्रकम्पः॥ २८॥

जिस (शत्रु-सूदन बन्धुवर्मा) के स्मृति-जन्य भय से आज भी—वैधव्य की विषम वेदना से व्यथित विशालाक्षी वैरि-वनिताओं के पीन वक्षःस्थल में क्लेश-कारक कम्पन उत्पन्न हो जाता है॥ २८॥

तस्मिन्नेव क्षितिपतिवृषे बन्धुवर्मण्युदारे
सम्यक्स्फीतं दशपुरमिदं पालयत्युन्नतांसे।
शिल्पावाप्तैर्धनसमुदयैः पट्टवायैरुदारं
श्रेणीभूतैर्भवनमतुलं कारितं दीप्तरश्मेः॥ २९॥

राजाओं में श्रेष्ठ, उदार और उन्नत स्कन्ध वाले उस बन्धुवर्मा के द्वारा समृद्ध दशपुर के सुचारु शासन में ही—शिल्प-जन्य द्रव्यराशि से सम्पन्न शिल्पियों ने समवेत रूप से भगवान् भास्कर का अनुपम एवं भव्य भवन बनवाया॥ २९॥

विस्तीर्णतुङ्गशिखरं शिखरिप्रकाश-
मभ्युद्गतेन्द्वमलरश्मिकलापगौरम्

यद् भाति पश्चिमपुरस्य[1] निविष्टकान्त-
चूडामणिप्रतिसमं नयनाभिरामम् ॥ ३० ॥

पर्वत सदृश आयत और उन्नत शिखरों से युक्त, उदीयमान चन्द्र के विमल अंशु-जाल के सदृश उज्ज्वल, पश्चिम देश की राजधानी दशपुर में जटित रुचिर चूडामणि के समान, नेत्रों को मुग्ध कर देने वाला वह मन्दिर शोभायमान था ॥ ३० ॥

रामासनाथभवने दरभास्करांशुवह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने ।
चन्द्रांशुहर्म्यतलचन्दनतालवृन्तहारोपभोगरहिते हिमदग्धपद्मे ॥ ३१॥

(जिस ऋतु में) केलिभवनों में पति-पत्नी का मिलन होता रहता है, सूर्य की मन्द किरणें और अग्नि का तेज प्रिय लगता है, मछलियाँ जल के भीतर ही छिपी रहती हैं, महलों का चन्द्र-किरण के समान शीतल निचले खण्ड, चन्दन, पंखे और हार आदि का सेवन नहीं किया जाता है, हिमपात से कमल जल जाते हैं (उस हेमन्त ऋतु में —श्लोक ३४ से सम्बन्ध) ॥ ३१ ॥

रोध्रप्रियङ्गुतरुकुन्दलताविकोशपुष्पासवप्रमुदितालिकुलाभिरामे ।
काले तुषारकणकर्कशशीतवातवेगप्रनृत्तलवलीनगणैकशाखे ॥ ३२ ॥

जो ऋतु लोध्र और प्रियंगु वृक्षों के, कुन्द की लताओं के,—विकसित पुष्पों के मधुपान से प्रफुल्लित मधुकर निकर-गुञ्जन से मनोरम रहता है, जिसमें हिमकण-मिश्रित अत एव तीव्र एवं शीतल वायु के वेग से आन्दोलित 'लवली' और 'नगण' नामक पुष्प-विशेष की शाखा की शोभा अपूर्व हो जाती है (उस ऋतु में—श्लोक ३४ से सम्बन्ध) ॥ ३२ ॥

स्मरवशगतरुणजनवल्लभाङ्गनाविपुलकान्तपीनोरु-
स्तनजघनघनालिङ्गननिर्भर्त्सिततुहिनहिमपाते ॥ ३३ ॥

(जिसमें) कामाभिभूत युवक वृन्द अपनी-अपनी प्रेयसी के पृथुल, मनोहर और पीन जघों, कुचों और पेडुओं के गाढ़ आलिंगन से अति शीतल हिमवर्षण को भी तिरस्कृत कर देता है (उस ऋतु में—श्लोक ३४ से सम्बन्ध) ॥ ३३ ॥

---

१. दशपुर को ही पश्चिमपुर कहा जाता था। क्योंकि उस समय यह पश्चिम भारत का सर्वश्रेष्ठ नगर माना जाता था।

मालवाना[1] गणस्थित्या याते शतचतुष्टये ।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने ॥ ३४ ॥

मालव-संवत् की गणना के अनुसार चार सौ तिरानवे वर्ष बीत जाने पर–बादलों के गर्जन से अच्छे लगने वाले हेमन्त ऋतु मे (मन्दिर की प्रतिष्ठा हुई—श्लोक ३५ से सम्बन्ध) ॥ ३४ ॥

सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे ।
मङ्गलाचारविधिना प्रासादोऽयं निवेशितः ॥ ३५ ॥

पौष मास के शुक्ल पक्ष की पवित्र त्रयोदशी तिथि मे माङ्गलिक विधिपूर्वक इस मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा की गई (अर्थात् मन्दिर मे सूर्यदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई) ॥ ३५ ॥

बहुना समतीतेन कालेनान्यैश्च पार्थिवैः ।
व्यशीर्यतैकदेशोऽस्य भवनस्य ततोऽधुना ॥ ३६ ॥

उसके बाद, अन्यान्य परवर्ती राजाओ के द्वारा बहुत समय व्यतीत कर दिये जाने के अनन्तर उस सूर्य-मन्दिर का एक भाग टूट गया इसके बाद अब (फिर उसका जीर्णोद्धार किया गया—श्लोक ३७ से सम्बन्ध) ॥ ३६ ॥

स्वयशोवृद्धये सर्वमत्युदारमुदारया ।
संस्कारितमिदं भूयः श्रेण्या भानुमतो गृहम् ॥ ३७ ॥

(इसके बाद अब) अपनी कीर्ति को बढ़ाने के लिये, उस उदार शिल्पि-समूह ने इस समस्त विशाल सूर्य-मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया ॥ ३७ ॥

अत्युन्नतमवदातं नभः स्पृशन्निव मनोहरैः शिखरैः ।
शशिभान्वोरभ्युदयेष्वमलमयूखायतनभूतम् ॥ ३८ ॥

(इस प्रकार मरम्मत होने के बाद) बहुत ऊँचा, स्वच्छ और अपने सुन्दर शिखरों से आसमान को चूमता हुआ यह मन्दिर मानो चन्द्रमा और सूर्य के उदयकालीन निर्मल किरणों का विश्राम-स्थल था ॥ ३८ ॥

---

१. मालव-गण मे प्रचलित संवत् । मालव गण अपने मूल निवास-स्थान पंजाब से यह संवत् लाये थे। किन्तु संभवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने जब शकों से मालवा जीता, तब उसका नाम "विक्रम संवत्" पड़ गया। बहुत प्राचीन समय में इसी को "कृत संवत्" भी कहा जाता था।

वत्सरशतेषु पञ्चसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु ।
यातेष्वभिरम्यतपस्यमासशुक्लद्वितीयायाम् ॥ ३९ ॥

पाँच सौ उनतीस वर्ष बीत जाने के बाद मनभावन फागुन के शुक्ल पक्ष की द्वितीया को (इस पुन संस्कृत सूर्यमन्दिर से दशपुर अलंकृत हो गया—श्लोक ४२ से सम्बन्ध) ॥ ३९ ॥

स्पष्टैरशोकतरुकेतकसिन्दुवारलोलातिमुक्तकलतामदयन्तिकानाम् ।
पुष्पोद्गमैरभिनवैरधिगम्य नूनमैक्य विजृम्भितशरे हरपूतदेहे ॥ ४० ॥

फागुन के उस मादक महीने में, जब कि महादेव के विषम लोचनानल से भस्मीभूत अत एव पवित्र शरीर वाला कामदेव—अशोक वृक्ष, केवडे, सिन्दुवार और लहराती हुई 'अतिमुक्तक' लता और मदयन्तिका' के सद्यःप्रस्फुटित पुञ्जीभूत प्रसूनों से अपने शरों का समृद्ध करता है ॥ ४० ॥

मधुपानमुदितमधुकरकुलोपगीतनगणैकपृथुशाखे ।
काले नवकुसुमोद्गमदन्तुरकान्तप्रचुररोध्रे ॥ ४१ ॥

जिस फागुन में मकरन्द पान से मस्त मधुपों की गूँज से नगणों' की शाखा अपनी सानी नहीं रखती और नूतन सुमनो के विकास से रोध्र द्रुमों में उत्कर्ष और श्री की समृद्धि हो रही है ॥ ४१ ॥

शशिनेव नभो विमलं कौस्तुभमणिनेव शार्ङ्गिणो वक्ष ।
भवनवरेण तथेदं पुरमखिलमलङ्कृतमुदारम् ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार निर्मल आकाश चन्द्रमा से और भगवान् विष्णु का वक्ष-स्थल कौस्तुभ मणि से सुशोभित होते हैं उसी प्रकार यह समस्त समृद्ध दशपुर नगर इस दिव्य मन्दिर से मण्डित हो रहा है ॥ ४२ ॥

अमलिनशशिलेखादन्तुरं पिङ्गलानां
परिवहति समूहं यावदीशो जटानाम् ।
विकचकमलमालामंससक्तां च शार्ङ्गी
भवनमिदमुदारं शाश्वतं तावदस्तु ॥ ४३ ॥

जब तक भगवान् शंकर धवल चन्द्रकला से नवोन्नत, पीतवर्ण के जटाजूट को धारण करते हैं और जब तक भगवान् विष्णु अपने कन्धों पर प्रस्फुटित पद्ममाला को धारण करते है, तब तक यह भव्य भवन स्थायित्व को प्राप्त करे ॥ ४३ ॥

श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवेः ।
पूर्णा चेयं प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना ॥ ४४ ॥

स्वस्ति कर्तृलेखकवाचकश्रोतृभ्यः ।
सिद्धिरस्तु ।

शिल्पि-समाज के आदेश एवं श्रद्धा से भगवान् सूर्य का यह मन्दिर बनवाया गया। और उपर्युक्त प्रशस्ति की वत्सभट्टि ने यत्न पूर्वक रचना की ॥ ४४ ॥

प्रशस्ति के रचयिता, लिपिक, पाठक एवं श्रोताओं का कल्याण हो।
सिद्धि हो।

शिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व

विषय—यद्यपि इस अभिलेख में मुख्यरूप से रेशमी बुनकरों द्वारा मालवा के मन्दसोर या दशपुर नगर में सूर्य-मन्दिर के निर्माण की घटना का वर्णन है। अतः इसमें ऐतिहासिक तथ्यों के अन्वेषण की सामग्री तो कम ही है, फिर भी कवि ने इसमें तत्कालीन जिस भारतीय शासक की चर्चा की है वे हैं गुप्तवंश के सबसे प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम। अभिलेख के २३ वें श्लोक के अन्तिम चरण में कवि ने स्पष्टरूप से कुमारगुप्त का उल्लेख किया है—"कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति"। इतना ही नहीं, उन्होंने २४ वें और २६ वें श्लोक में मालव देश के तत्कालीन प्रान्तीय शासक नृप विश्ववर्मा और उनके पुत्र दशपुर नगर के शासक बन्धुवर्मा का नामोल्लेख भी किया है। इसके साथ ही कुमारगुप्त प्रथम के समय में जब बन्धुवर्मा दशपुर नगर का शासन कर रहा था तो दशपुर नगर की रमणीयता पर मुग्ध होकर लाट देश के रेशमी बुनकरों का दल वहाँ आकर अपना व्यवसाय करने लगा और अपने व्यवसाय से प्राप्त धन से उसने राजा की आज्ञा से नगर में एक भव्य सूर्य मन्दिर बनवाया। कुछ दिनों बाद वह मन्दिर भग्न हो गया जिसका पुनर्निर्माण उन्हीं लोगों ने फिर किया। सक्षेप में इस अभिलेख से यह घटना ज्ञात होती है। अब आगे हम सक्षेप में अभिलेख में आये कुमारगुप्त और इससे निकलने वाले कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का अवलोकन करेंगे।

समय—अभिलेख के ३९ वें श्लोक में 'वत्सरशतेषु पञ्चसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु" इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि पट्टवायश्रेणी द्वारा सूर्य-मन्दिर की मरम्मत मालव संवत् ५२९ में फाल्गुन महीने के शुक्लपक्ष की द्वितीया तिथि

में हुई थी। अभिलेख की रचना का भी समय यही होना चाहिए। मालव संवत् ५२९, जो विक्रम संवत् से भी प्रसिद्ध है, को ४७३ ईस्वी माना गया है।

कुमारगुप्त का परिचय —गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र कुमारगुप्त राज्य-सिंहासन पर बैठा। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने बड़े भाई रामगुप्त की पत्नी ध्रुवस्वामिनी से विवाह किया था। उसी ध्रुवस्वामिनी का पुत्र कुमारगुप्त था। इस बात का संकेत हमें स्कन्दगुप्त के "भितरी" (Bhitari) स्तूप-लेख के 'महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य महादेव्या ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य" इस वाक्य से मिलता है। साथ ही बिहार के बैशाली नामक स्थान से प्राप्त मिट्टी की मुहरों से यह भी ज्ञात होता है कि गोविन्दगुप्त नाम का कुमारगुप्त का एक भाई था जो कुमारगुप्त के प्रतिनिधि के रूप में बैशाली का शासन करता था। उन मुहरों में गोविन्दगुप्त की माता ध्रुवस्वामिनी के साथ गोविन्दगुप्त का एक साथ उल्लेख मिलता है—"महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त-पत्नी महाराज श्री गोविन्दगुप्त-माता महादेवी ध्रुवस्वामिनी।" इन मुहरों से यह ज्ञात होता है कि गोविन्दगुप्त, कुमारगुप्त का छोटा भाई था और कुमारगुप्त बड़ा होने के कारण राज्यसिंहासन का उत्तराधिकारी बना था।

राज्यकाल —कुमारगुप्त के बहुत से तिथियुक्त अभिलेखों और मुद्राओं से हम उसके राज्यकाल का निश्चय कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सबसे अन्तिम साँचीवाले गुप्त संवत् ९३ के लेख से यह मालूम होता है कि ई० सन् ४१३ के बाद राज्य का शासन भार कुमारगुप्त के कन्धे पर आ गया था। कुमारगुप्त के बिल्सद अभिलेख से इस बात की पुष्टि हो जाती है, जिसकी तिथि गुप्त संवत् ९६ (ई० सन् ४१५) है। कुमारगुप्त के चाँदी के सिक्कों पर उसकी सबसे अन्तिम तिथि गुप्त संवत् १३६ मिलती है। इसके साथ ही कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त की सबसे पुरानी लिखित तिथि जूनागढ़ अभिलेख में गुप्त संवत् १३६ (ई० सन् ४५५) है।

इन उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त ने सन् ४१३ से लेकर सन् ४५५ ई० तक राज्य किया।

राज्य-विस्तार :—कुमारगुप्त प्रथम के किसी भी अभिलेख या अन्य उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं ज्ञात होता है कि उसने अपने पिता अथवा पितामह की भाँति विजय-यात्रा करके अपने राज्य का विस्तार किया था। हाँ! इतना अवश्य ज्ञात होता है कि इसने अपने पिता से प्राप्त विशाल साम्राज्य का सुन्दर

ढग से शासन-प्रबन्ध किया और उसकी अन्त तक सुरक्षा भी की। उसकी राज्यसीमा पूर्व में बंगाल और पश्चिम में सौराष्ट्र तक उत्तर मे हिमालय तथा दक्षिण मे नर्मदा नदी तक विस्तृत थी। उस समय कुमारगुप्त के सामन्त के रूप में "नृप विश्ववर्मा" मालव देश का शासन कर रहा था और उसी का पुत्र बन्धुवर्मा मालव देश के दशपुर नगर का प्रशासक था। इसके द्वारा नियुक्त चिरातदत्त और घटोत्कच क्रमश उत्तरी बंगाल और पूर्वी मालवा पर शासन करता था। इस प्रकार कुमारगुप्त का शासन बड़ा ही शान्तिपूर्ण था। उसके शासन-काल मे गुप्त-साम्राज्य का वैभव चरमोत्कर्ष पर था। अत उसका शासन-काल बड़ा ही सुखमय था किन्तु कुमारगुप्त के शासन-काल के अन्तिम समय में उसे पुष्यमित्रों से युद्ध करना पड़ा, जो बड़े ही शक्तिशाली हो गये थे। कुमारगुप्त उस समय वृद्ध था अत एव उसके योग्य पुत्र स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों का डटकर मुकाबिला किया और उन्हे परास्त भी किया। इसकी पुष्टि भितरी के प्रस्तर स्तम्भ लेख के "विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन ... समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा ...." इस अंश से होती है।

अश्वमेध यज्ञ तथा धार्मिक सहिष्णुता—यद्यपि कुमारगुप्त ने कोई विजय-यात्रा नहीं की थी, जिसके फलस्वरूप वे अश्वमेध यज्ञ करते लेकिन चूँकि उनके पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय और पितामह समुद्रगुप्त ने यह यज्ञ अपनी विजय के उपलक्ष्य मे किया था, इसलिये कुमारगुप्त ने भी अपने सुव्यवस्थित साम्राज्य में अश्वमेध यज्ञ की परम्परा की सुरक्षा की थी इस बात का सकेत हमें उसके सोने के उन सिक्को मे मिलता है जिनके पृष्ठ पर "श्री अश्वमेध महेन्द्र" यह उल्लेख पाया जाता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उसने यह उपाधि अश्वमेध यज्ञ के बाद धारण की होगी। क्योंकि अन्य उपाधियों के रहते हुए भी कुमारगुप्त सामान्यत महेन्द्रादित्य के नाम से ही विख्यात था।

अपने पूर्वजों की भाँति ही कुमारगुप्त कट्टर ब्राह्मण-धर्मानुयायी होकर भी और धर्मों के प्रति सहिष्णु था। उसने अपने सुदीर्घ शासन-काल में मन्दिरों और मठों के लिये अनेक प्रकार के दान दिये। मानकुँवर और साँची के अभिलेखों से यह पता लगता है कि उसने बौद्ध-विहारों के भी निर्माण में मुक्त हाथों से दान दिया था। ब्राह्मण धर्म के देवताओं में उसने सूर्य, शिव, विष्णु और कार्तिकेय को अधिक प्रश्रय दिया था। कुमारगुप्त ने देवताओं में सर्वाधिक

महत्त्व कार्तिकेय को दिया था। अत एव उसके सिक्कों से यह ज्ञात होता है कि उसी समय विष्णु के स्थान पर कार्तिकेय ही इष्टदेव के रूप में पूजा का स्थान प्राप्त कर लिए थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुमारगुप्त एक प्रभावशाली शासक, परम वैष्णव, धर्मसहिष्णु, दानवीर तथा प्रजापालक सम्राट् था।

इसके अतिरिक्त मन्दसोर शिलालेख से निम्नलिखित बातों का आभास मिलता है —

(१) गुप्तवंश म कुमारगुप्त नाम के दो राजे हो चुके हैं जिसमें इस अभिलेख का सम्बन्ध कुमारगुप्त प्रथम से है।

(२) अभिलेख के विवरण से यह पता लगता है कि उस समय दशपुर मे सूर्य-मन्दिर का निर्माण, और नष्ट हो जाने पर उसका पुनर्निर्माण ये दो घटनाएँ मिलती हैं, जिनमें कवि ने मन्दिर निर्माण के समय विद्यमान वहाँ के शासक का नामोल्लेख तो किया है किन्तु पुनर्निर्माण के समय के शासक का उल्लेख नहीं किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि मन्दिर-निर्माण के समय तत्कालीन शासक का नामोल्लेख करना चाहिए" यह सोचकर ऐसा किया गया किन्तु पुनर्निर्माण के समय सम्भवतः दशपुर का कोई शासक नहीं था, अतः "कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति" के द्वारा पुनर्निर्माण की घटना के समय कवि ने प्रथम कुमारगुप्त की चर्चा की है।

(३) "कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति" से कवि का तात्पर्य मालव-संवत् ४९३ मे मन्दिर का निर्माण और मालवसंवत् ५२९ में उसका पुनर्निर्माण इन दोनों घटनाओं के समय मे "कुमारगुप्त" इस एक ही नाम को धारण करने वाला एक केन्द्रीय महाशासक था।

मन्दिर निर्माण के ३६ वर्ष बाद ५२९ मालव-संवत् में उसके पुनर्निर्माण की घटना के समय कुमारगुप्त द्वितीय के शासन करने की भी सम्भावना की जा सकती है।

शिलालेख की साहित्यिक विशेषताएँ

विषय :—मुख्य रूप से इस अभिलेख में वत्सभट्टि ने लाट देश से दशपुर आये हुए रेशमी बुनकरों द्वारा वहाँ पर सूर्य-मन्दिर के निर्माण और दशपुर नगर का सुन्दर वर्णन किया है। इस प्रकार यह एक प्रकार का साम्प्रदायिक अभिलेख माना जाता है। यह प्रशस्ति वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर सरल

काव्य की रचना में सिद्धहस्त कवि की लघुकाव्य के रूप में सर्वोत्कृष्ट कमनीय कृति है तथा यही कृति वत्सभट्टि को संस्कृत के उत्कृष्ट कवियों की पंक्ति में बैठाती है।

वत्सभट्टि ने अपनी प्रशस्ति का शीर्षक न देकर 'पूर्वा चेयं प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना' इस कथन में 'पूर्वा' शब्द में ही उसकी ओर संकेत किया है। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि पञ्चम शताब्दी में मन्दिर-निर्माण तथा अन्यान्य सामाजिक हित के कार्यों की प्रशंसा में ऐसी ऐसी प्रशस्तियों की रचना की जाती थी।

साथ ही "प्रयत्नेन रचिता" इस प्रयोग से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने अलंकारशास्त्र का गहन अध्ययन करके तब उन नियमों का साङ्गोपाङ्ग निर्वाह करते हुए अपनी कृति का निर्माण किया है, जैसा कि उनके इस अभिलेख के काव्यगत गुणदोषों के विवेचन से स्पष्ट होगा।

शैली :—यों तो सर्वत्र वैदर्भी रीति का ही आश्रय लेकर काव्य-रचना की गई है किन्तु स्थान स्थान पर वर्ण्यविषय के अनुकूल दीर्घ समास का आश्रय लेकर गौडी बन्ध का सन्निवेश किया गया है। गौडी रीति का उदाहरण हम ३२ वें एवं श्लोक में पाते हैं। पद्य में लम्बे लम्बे समासों का प्रयोग स्वच्छन्दता से किया गया है। पूरा ३३ वां श्लोक एक ही समासपूर्ण वाक्य में लिखा गया है। कवि ने अपने वर्ण्यविषय के अनुकूल ध्वनियों के नाद उपस्थित करने-वाले शब्दों का गुम्फन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। एक ही पद्य में अनेक रसों का समाहार है नायक की उदात्तता दिखाने के लिये कोमल पदों का विन्यास वहाँ किया गया है वहीं उसके शौर्य और औद्धत्य के वर्णन में परुष शब्दों के प्रयोग से अपनी वर्णन-पद्धति की बहुमुखी प्रमाणित कर दिया गया है।

'तस्यात्मजः' इस २६ वें श्लोक में कोमल एवं परुष उभयविध शब्दों का समन्वय विषय की अनुकूलता को ध्यान में रखकर ही किया गया है। श्लोक के अन्तिम पाद में रौद्ररस के अनुकूल ही पदावली का प्रयोग है।

अलंकार :—अलंकारों में शब्दालंकार और अर्थालंकार इन दोनों का प्रयोग किया गया है। शब्दालंकार में अनुप्रास का विशेषकर वर्णानुप्रास का प्रयोग किया गया है। पदानुप्रास का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है। वर्णानुप्रास का उदाहरण तो प्रायः सभी श्लोकों में मिल जाता है। पदानुप्रास का उदाहरण हम २६ वें श्लोक में बन्धु शब्द के तीन बार के प्रयोग में पाते हैं।

अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक का उदाहरण बहुत अधिक मिलता है। कवि की उपमा की छटा कालिदास की उपमा की स्मृति दिला देती है—"चलत्पताकान्यबलासनाथ—" इस १० वें श्लोक में कवि ने दशपुर नगर के भवनों के ऊँचे ऊँचे श्वेत-शिखरों की उपमा विद्युल्लता की दीप्ति से रंगबिरंगे बने श्वेताभ्र के टुकड़ों से दी है। इसी प्रकार "समानधीः" इस २४ वें श्लोक में विश्ववर्मा की बुद्धि तथा वीरता की उपमा देवगुरु बृहस्पति तथा अर्जुन से दी गई है।

इसी तरह—३० वें श्लोक में दशपुर नगर में विराजमान सूर्य-मन्दिर की चौड़ाई और ऊँचाई की उपमा पर्वत के शिखरों से दी गयी है और साथ ही पश्चिम देश की राजधानी में शोभायमान इस मन्दिर की उपमा आभूषणों में जटित चूड़ामणि से दी गयी है। सबसे सुन्दर उपमा का उदाहरण हमें—४२ वें श्लोक में मिलता है। यहाँ इस सूर्य-मन्दिर से युक्त दशपुर नगर की तुलना चन्द्रमा से युक्त स्वच्छ आकाश से और कौस्तुभमणि-विभूषित विष्णुभगवान के वक्षःस्थल से की गयी है। इसी प्रकार १३, २६ एवं २७ वें श्लोक में भी उपमा अलंकार है।

उत्प्रेक्षालंकार की छटा तो बड़ी ही सुखकारी है। देखिये—१२ वें श्लोक में कवि ने उपमा के साथ ही अनुप्रास का कैसा सुन्दर समन्वय किया है—यहाँ के भवन पूर्णचन्द्र की किरणों के सदृश स्वच्छ और मंजिलों की परम्परा से अलंकृत ऐसे मालूम पड़ते हैं मानो पृथिवी को चीर कर ऊपर उठ आये हुए विमानों की पंक्ति हो।

इसी प्रकार बन्धुवर्मा के चरित्र-चित्रण और सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में—२७ वें श्लोक में कवि ने बन्धुवर्मा को रूप में मानो कामदेव का दूसरा अवतार ही मान लिया है। इसी भाँति—३२वें श्लोक में भी बहुत ऊँचा, स्वच्छ और अपने सुन्दर शिखरों से आसमान को छूता हुआ वह मन्दिर मानो चन्द्रमा और सूर्य के उदयकालीन निर्मल किरणों का निवासस्थल हो। इस प्रकार उत्प्रेक्षा का सुन्दर चित्र उपस्थित होता है।

रूपक अलंकार का उदाहरण हम "पुष्पावनम्रतरुषण्डवतंसकाभ्यः" इस छठे श्लोक के तृतीय चरण में पाते हैं। जहाँ पर पुष्प के भार से झुके हुए वृक्ष ही उस मालव भूमि के शोभाभूषण हैं।

और २३ वें श्लोक में रूपक का सुन्दर विन्यास है। इसमें कवि ने चारों समुद्रों के तट को पृथिवी की डोलती करधनी माना है। सुमेरु और कैलाश पर्वत को उसका स्तन और वनपर्वों में टपकते खिले हुए फूलों को उसका हास माना है। इसी प्रकार अन्यत्र भी छिटपुट रूप में रूपक का उदाहरण मिलता है।

छन्द :—इस अभिलेख में जहाँ तक छन्दों का प्रश्न है, उसमें तो कवि ने कमाल दिखाया है काव्यशास्त्र के पालन के लिये और अपने छन्दशास्त्र के आधिपत्य को दिखाने के लिये कवि ने ४४ पद्यों की प्रशस्ति में लगभग १२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि शीघ्रता से छन्द-परिवर्तन के कारण लय की गति कमजोर पड़ जाती है और इसीलिए छन्द-सौन्दर्य पूर्णतया उभर नहीं पाया है फिर भी छन्दों की विविधता अवश्य ही रोचक है।

कवि ने १, २ मंगल श्लोकों में शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया है। कवि ने वसन्ततिलका का सर्वाधिक प्रयोग किया है। श्लोक संख्या ३, ५, ६, ११, १४, १८, २०, २२, २५, २७, ३०—३२ और ४० वें श्लोक में वसन्ततिलका का उपयोग किया है। श्लोक संख्या ७–९, २४ में उपेन्द्रवज्रा छन्द है। श्लोक संख्या १७, २६ में इन्द्रवज्रा, श्लोक संख्या १०, १२, २८ में उपजाति (इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा) श्लोक संख्या १९ और ४३ में मालिनी, श्लोक संख्या १५ में द्रुतविलम्बित, १६ में हरिणी, २३ में वंशस्थ, २९ में मन्दाक्रान्ता, श्लोक संख्या ४, १३, २१, ३३, ३८, ३९, ४१, ४२ इनमें आर्या और ३४—३७, ४४ में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है।

वर्णन में अन्य कवियों से समता

दशपुर नगर के वर्णन में कवि ने बड़ी ही रुचि दिखलायी है। वत्सभट्टि की इस प्रशस्ति में दशपुर के वर्णन में कालिदास के अलका-वर्णन की छाया स्पष्ट मिलती है। देखिये प्रशस्ति के—"·······चलत्पताकान्यबलासनाथा·······गृहाणि यत्र" इस श्लोक में उत्तर मेघ के "विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः" इस अलका-वर्णनपरक श्लोक से अपूर्व साम्य है।

इसी प्रकार वत्सभट्टि के नदी-वर्णन के प्रसंग में नये कामदेव की पत्नी की उत्प्रेक्षा करने की प्रेरणा कवि को सुबन्धु की वासवदत्ता से और बृहत्संहिता से मिली होगी। देखिये—प्रशस्ति के १३ वें श्लोक "रहसि कुचशालिनीभ्यः प्रीतिरतिभ्यां स्मराङ्गमिव" में "वासवदत्ता" के "रेवया दिव्यमदेव प्रसारित-

वीचिहस्तयोपगूढः" इस श्लोक की और बृहत्संहिता में "रहसि मदनसक्त्या रेवया कान्तयोपगूढम्" इस श्लोक की छाप स्पष्ट नजर आती है।

शिशिर ऋतु का वर्णन बड़ी ही रोचक शैली में हुआ है। कवि का यह ऋतु-वर्णन कालिदास के ऋतुसंहार के ऋतु-वर्णन से मिलता जुलता है। देखिये, कालिदास के—

"सद्यःप्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्ति नवचूतबाणे।
निवेशयामास मधु द्विरेफाः नामाक्षराणीव मनोभवस्य॥"

इस वर्णन के आधार पर ही वत्सभट्टि ने ४० वें श्लोक—"स्पष्टैरशोकतरु-केतकसिन्दुवार" में पाँच पुष्पों की तुलना कामदेव के पाँच बाणों से की है।

टिप्पणी

दशपुर—मन्दसौर।

विहार—फ्लीट महोदय के अनुसार इस शब्द का अर्थ "बौद्ध भिक्षुओं का आवास" है। इस शिलालेख के उत्कीर्ण होने के दिनों में दक्षिणी गुजरात में बौद्ध विहारों की सम्भावना भी की जा सकती है। किन्तु वत्सभट्टि ने यहाँ पर इस शब्द को 'आनन्द' के अर्थ में प्रयोग किया है।

लाट-विषय—पश्चिमी मालवा का पश्चिमी इलाका। इसकी राजधानी नवसारिका थी।

श्रेणिरेवं प्रकारै.—लाट देश के रेशम बुनकर, जो दशपुर में बस गये थे, अनेक व्यवसाय करने लग गये थे। इससे यह प्रकट होता है कि जातिगत व्यवसाय रूढ़ नहीं हुआ था।

मालवाना गणस्थित्या—मालवगण में प्रचलित संवत्। ये लोग अपने मूल स्थान पंजाब से यह संवत् लाये थे, किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सम्भवतः द्वितीय ने जब शकों से मालवा जीता तब उसका नाम 'विक्रम संवत्' पड़ गया। बहुत प्राचीन काल में इसी को 'कृत' संवत् भी कहते थे।

कारण्डव—एक प्रकार का हंस।

नृप विश्ववर्मा—यह मन्दसौर का स्थानीय शासक था, जब कि कुमारगुप्त सम्राट् था।

पश्चिमपुर—दशपुर को ही 'पश्चिमपुर' कहा जाता था। क्योंकि उस समय पश्चिम भारत का यह सर्वश्रेष्ठ नगर माना जाता था।

(४) दशपुरस्थयशोधर्मराजकालिककूपशिलालेखः
[महाराजयशोधर्मणः शिलालेखः]

(मालव संवत् ५८९)

सिद्धम्

स जयति जगतां पतिः पिनाकी स्मितरवगीतिषु यस्य दन्तकान्तिः ।
द्युतिरिव तडितां निशि स्फुरन्ती तिरयति च स्फुटयत्यदश्च विश्वम् ॥१॥

सिद्धि हो।

'पिनाक' नामक धनुष को धारण करनेवाले, समस्त विश्व के स्वामी उस शंकर भगवान् की जय हो जिनके मुस्कराहट समय और गान में प्रस्फुटित दाँतों की आभा, रात में छिटकती बिजली की चमक के समान इस संसार को तिरोहित और प्रकाशित करती रहती है ॥ १ ॥

स्वयम्भूर्भूतानां स्थितिलयसमुत्पत्तिविधिषु
प्रयुक्तो येनाज्ञां वहति भुवनानां विधृतये।
पितृत्वं चानीतो जगति गरिमाणं गमयता
स शम्भुर्भूयांसि प्रतिदिशतु भद्राणि भवताम् ॥ २ ॥

प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूप कार्य में जिनके द्वारा नियुक्त ब्रह्मा संसार के धारण के लिए उनके आदेश का पालन करते हैं, और इस प्रकार जो संसार में ब्रह्मा की महिमा को बढ़ाते हुए उनको पितामह के पद पर पहुँचाते हैं, वे शिव आप लोगों का भूरि-भूरि मङ्गल करें ॥ २ ॥

फणामणिगुरुभाराक्रान्तिदूरावनम्रं
स्थगयति रुचमिन्दोर्मण्डलं यस्य मूर्ध्नाम्।
स शिरसि विनिबध्नन् रन्ध्रिणीमस्थिमालां
सृजतु भवसृजो वः क्लेशभङ्गं भुजङ्गः ॥ ३ ॥

फन की मणियों के अत्यधिक बोझ के कारण बहुत अधिक झुका हुआ जिसके मस्तकों का मण्डल चन्द्रमा की शोभा को भी मन्द कर देता है, संसार की रचना

करनेवाले भगवान् शंकर के मस्तक पर छिद्रमयी हड्डियों की माला को आबद्ध करनेवाला वह सर्प आप लोगों के दुःखों को दूर करे ॥ ३ ॥

षष्ट्या सहस्रैः सगरात्मजानां खातः खतुल्या रुचमादधानः ।
अस्योदपानाधिपतेश्चिराय यशांसि पायात्पयसां विधाता ॥ ४ ॥

राजा सगर के साठ हजार पुत्रों के द्वारा खोदा गया और आकाश के समान शोभा को धारण करनेवाला वह समुद्र चिरकाल तक कुएँ के स्वामी के यश की रक्षा करें ॥ ४ ॥

अथ जयति जनेन्द्रः श्रीयशोधर्मनामा
प्रमदवनमिवान्तः शत्रुसैन्यं विगाह्य ।
व्रणकिसलयभङ्गैर्योऽङ्गभूषां विधत्ते
तरुणतरुलतावद्वीरकीर्तीर्विनाम्य ॥ ५ ॥

अन्तःपुर के क्रीडोद्यान के समान शत्रुओं की सेना को भीतर से विलोडित कर, वीरों की कीर्ति को नूतन वृक्षों की लता के समान झुकाकर, छवि रूपी पल्लव-रचनाओं से अपने अंगों को विभूषित करनेवाले जननायक यशोधर्मा की जय हो ॥ ५ ॥

आजौ जिती विजयते जगतीम्पुनश्च
श्रीविष्णुवर्धननराधिपतिः स एव ।
प्रख्यात औलिकरलाञ्छन आत्मवंशो
येनोदितोदितपदं गमितो गरीयः ॥ ६ ॥

इसके बाद फिर, संग्राम में भूमण्डल को जीतनेवाले, "औलिकर" उपनाम से प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण अपने वंश को अत्युच्च पद पर पहुँचानेवाले राजा विष्णुवर्धन की जय हो ॥ ६ ॥

प्राचो नृपान् सुबृहतश्च बहूनुदीचः
साम्ना युधा च वशगान् प्रविधाय येन ।
नामापरं जगति कान्तमदो दुरापं
राजाधिराजपरमेश्वर इत्युदूढम् ॥ ७ ॥

और जिसने पूर्व के विशिष्ट राजाओं का तथा उत्तर के बहुत से राजाओं को शान्ति और युद्ध के द्वारा अपने अधीन करके संसार में सुन्दर और दुर्लभ "राजाधिराज परमेश्वर" उपनाम को प्राप्त किया (उसकी जय हो) ॥ ७ ॥

स्निग्धश्यामाम्बुदाभैः स्थगितदिनकृतो यज्वनामाज्यधूमै-
रम्भो मेध्य मघोनावधिषु विदधता गाढसम्पन्नसस्य. ।
संहर्षाद्वाणिनीना करररभसहृतोद्यानचूताङ्कुराग्रा
राजन्वन्तो रमन्ते भुजविजितभुवा भूरयो येन देशाः ॥ ८ ॥

होनाओं की आहुति से उठे हुए चिकने और काले मेघों के समान धूमपटल से आच्छन्न सूर्य वाले, इन्द्र के द्वारा ठीक समय पर पवित्र जल की वर्षा की जाने के कारण प्रचुर धान्य से समृद्ध, विदग्ध वनिताओं के करपल्लव से मस्ती के साथ वेगपूर्वक उपवन की खींची जाती हुई आम्र मञ्जरीवाले अनेक देश, अपने बाहुबल से पृथ्वी को जीतनेवाले जिस यशोधर्मा के द्वारा अपने-अपने कर्तव्यों में नियुक्त राजाओं से युक्त होकर फल फूल रहे हैं, (उसकी जय हो) ॥

यस्योत्केतुभिरुन्मदद्विपकरव्याविद्धलोध्रद्रुमै-
रुद्धूतेन वनाध्वनि ध्वनिनदद्विन्ध्याद्रिरन्ध्रैर्बलैः ।
बालेयच्छविधूसरेण रजसा मन्दांशु संलक्ष्यते
पर्यावृत्तशिखण्डिचन्द्रक इव ध्याम रवेर्मण्डलम् ॥९॥

झंडे फहरानेवाली, वनमार्ग में हस्ति-समूह के सूंडों द्वारा लोध्र वृक्षों को उखाड़नेवाली और अपने गर्जन से विन्ध्यपर्वत की कन्दराओं को प्रतिध्वनित करनेवाली जिसकी सेनाओं के द्वारा विजय में (विजय-यात्रा के प्रसंग में) उड़े हुए और गदहे के रंग के समान भूरे धूलि-पटल से मलिन सूर्य-मंडल निस्तेज होकर मोरपंख के उलटा चँदवा के समान दीख रहा है (उसकी जय हो) ॥९॥

तस्य प्रभोर्वंशकृतां नृपाणां पादाश्रयाद्विश्रुतपुण्यकीर्तिः ।
भृत्यः स्वनैभृत्यजितारिषट्कः आसीद्वसीयान् किल षष्ठिदत्तः ॥ १० ॥

उस राजा के पूर्वज (पूर्ववर्ती) राजाओं के चरणों में निवास करने के कारण प्रख्यात पुण्य और कीर्ति वाला, अपने विनम्र भावों से काम क्रोधादि षड्-रिपुओं को नियन्त्रित रखनेवाला, "षष्ठिदत्त" नाम का धन-सम्पन्न सेवक था ॥ १० ॥

हिमवत इव गाङ्गस्तुङ्गनम्रः प्रवाहः
शशभृत इव रेवावारिराशिः प्रथीयान् ।
परममभिगमनीयः शुद्धिमानन्ववायो
यत उदितगरिम्णस्तायते नैगमानाम् ॥ ११ ॥

जिस प्रकार हिमालय पर्वत से गंगा का उन्नत और नम्र प्रवाह तथा चन्द्रमा से रेवा नदी (नर्मदा) का विशाल जलसमूह फैला उसी प्रकार समुन्नत महिमावाले इस षष्ठिदत्त से नगर के व्यापारियों के वन्दित पुण्य और विशुद्ध कुल का प्रसार हुआ ॥ ११ ॥

तस्यानुकूलः कुलजात्कलत्रात् सुतः प्रसूतो यशसां प्रसूतिः ।
हरेरिवांशं वशिनं वराहं वराहदासं यमुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

उस षष्ठिदत्त की उच्चकुलोत्पन्न धर्मपत्नी से उसके ही अनुकूल परम यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। भगवान् विष्णु के अंश के तुल्य, जितेन्द्रिय और सुयोग्य उस पुरुष रत्न को "वराहदास" इस नाम से पुकारा जाता है ॥ १२ ॥

सुकृतिविषयतुङ्गं रूढमूलं धरायां
स्थितिमविगतभङ्गां स्थैर्यमौलादधानम् ।
गुरुशिखरमिवाद्रेरुन्नतं तत्कुलं स्वं
रविरिव रविकीर्तिः सुप्रकाशं व्यधत्त ॥ १३ ॥

पुण्य कर्म को करनेवाले, शिष्ट पुरुषों के कारण उन्नत, संसार में अपनी जड़ जमा चुकनेवाले, नश्वरता-रहित सुदृढ़ स्थिति को धारण करनेवाले पर्वत की ऊँची चोटी के समान उस कुल को रविकीर्ति ने सूर्य के समान अपने ऐश्वर्य से आलोकित कर दिया ॥ १३ ॥

विभ्रता शुभ्रमभ्रान्ति स्मार्तं वर्त्मोचितं सताम् ।
न विसंवादिता येन कलावपि कुलीनता ॥ १४ ॥

अत्युज्ज्वल, दृढ़, स्मृति-प्रतिपादित और शिष्टों के अनुकूल पद्धति को अपनानेवाले उस (रविकीर्ति) ने कलियुग में भी अपनी कुलमर्यादा को खण्डित नहीं होने दिया ॥ १४ ॥

धुतधीदीधितिध्वान्तान् हविर्भुज इवाध्वरान् ।
भानुगुप्ता ततः साध्वी तनयांस्त्रीनजीजनत् ॥ १५ ॥

रविकीर्ति से उसकी साध्वी पत्नी भानुगुप्ता ने अग्नि से यज्ञ के समान, अपनी ज्ञानरश्मि से अज्ञान के अन्धकार को दूर कर देनेवाले तीन पुत्रों को उत्पन्न किया ॥ १५ ॥

भगवद्दोष इत्यासीत् प्रथमः कार्यवर्त्मसु।
आलम्बनं बान्धवानामन्धकानामिवोद्धवः ॥ १६ ॥

(उन दोनों में) "भगवद्दोष" बड़ा था। वह कार्य पद्धति में अन्धकों के लिये उद्धव के समान अपने बान्धवों का सहायक था ॥ १६ ॥

बहुनयविधिवेधा गह्वरेऽप्यर्थमार्गे
विदुर इव विदूरं प्रेक्षया प्रेक्षमाणः।
वचनरचनबन्धे संस्कृतप्राकृते यः
कविभिरुदितरागं गीयते गीरभिज्ञः ॥ १७ ॥

वह नाना प्रकार के न्यायविधान में विधाता के समान था, गंभीर अर्थनीति (आर्थिक एवं राजनीतिक विषयों) में भी प्रज्ञा के कारण विदुर के समान दूरदर्शी था। कविगण अत्यधिक अनुरागपूर्वक संस्कृत और प्राकृत वाक्यों के रचना-विधान में उसे कुशल मानते थे ॥ १७ ॥

प्रणिधिदृगनुगन्त्रा यस्य बौद्धेन चाक्ष्णा
न निशि ननु दवीयो वास्त्यदृष्टं धरित्र्याम्।
पदमुदयि दधानोऽनन्तरं तस्य चाभूत्
स भयमभयदत्तो नाम निघ्नन् प्रजानाम् ॥ १८ ॥

उन्नत पद को धारण करनेवाला तथा प्रजाओं के भय का दमन करते हुए उन्हें अभय देनेवाला "अभयदत्त" नाम का दूसरा लड़का था। जिस अभयदत्त को, गुप्तचररूपी नेत्र का अनुगमन करनेवाली, ज्ञान-दृष्टि से पृथ्वी पर कोई सूक्ष्म या दूरवर्ती वस्तु रात में भी छिपी नहीं रह सकती थी ॥ १८ ॥

विन्ध्यस्यावन्ध्यकर्मा शिखरतटपतत्पाण्डुरेवाम्बुराशे-
र्गोलाङ्गूलैः सहेलं प्लुतिनमितनरोः पारियात्रस्य चाद्रेः।
आसिन्धोरन्तरालं निजसुचिरसचिवाध्यासितानेकदेशान्
राजस्थानीयवृत्त्या सुरगुरुरिव यो वर्णिनां भूतयेऽपात् ॥ १९ ॥

सफल कार्य करनेवाला वह, चोटियों से गिरते हुए नर्मदा के सफेद जल-समूह से युक्त विन्ध्यपर्वत और लंगूरों के क्रीड़ापूर्वक उछल-कूद से झुके हुए पेड़-वाले "पारियात्र" पर्वत से लेकर "सिन्धु" तक के मध्यवर्ती और अपने सच्चे मन्त्रियों से अधिष्ठित विभिन्न प्रान्तों का, राजा के प्रतिनिधि के रूप में, बृहस्पति के समान, चारों वर्णों के कल्याण के लिये पालन-पोषण किया ॥ १९ ॥

विहितसकलवर्णासङ्करं शान्तडीम्वं
कृत इव कृतमेतद्येन राज्यं निराधि ।
स धुरमयमिदानीं दोषकुम्भस्य सूनु-
र्गुरु वहति तदूढा धर्मतो धर्मदोषः ॥ २० ॥

जिस धर्मदोष ने अपने राज्य मे जातिगत साकर्य को दूर कर और विद्रोह को शान्त कर सत्ययुग की भाँति प्रजाजन की मानसिक व्यथा को दूर कर दिया है, "अभयदत्त" के अनुज "दोषकुम्भ" के सुपुत्र वह धर्मदोष, अभयदत्त के द्वारा ढोये गये राज्य-कार्य के गुरुतर जूए को धर्म-पुरःसर वहन कर रहा है ॥ २० ॥

स्वसुखमनतिवाञ्छन्दुर्गमेऽध्वन्यसङ्गा
धुरमतिगुरुभारां यो दधद् भर्तुरर्थे ।
वहति नृपतिवेषं केवलं लक्ष्ममात्रम्
वलिनमिव विलम्बं कम्बलं बाहुलेयः ॥ २१ ॥

अपने सुख की उपेक्षा करके, बिना किसी की सहायता लिए, अपने स्वामी यशोधर्मा के हितार्थ, गुरुतर राज्य-भार को दुरूह मार्ग में भी वहन करता हुआ वह धर्मदोष "राजा" के वेष को नाममात्र से उसी प्रकार धारण करता है जिस प्रकार भारी और लटकते हुए गल-कम्बल को बैल ॥ २१ ॥

उपहितहितरक्षामण्डनो जातिरत्नै-
र्भुज इव पृथुलांसस्तस्य दक्षः कनीयान् ।
महदिदमुदपानं खानयामास बिभ्र-
च्छ्रुतिहृदयनितान्तानन्दि निर्दोष नाम ॥ २२ ॥

विस्तृत वक्ष स्थलवाले, और बहुमूल्य रत्नों से भुजाओं के सदृश; सौंपे गये उत्तरदायित्व के संरक्षणरूप भूषणवाले, उसके (धर्मदोष के) कनिष्ठ भ्राता "दक्ष" ने कान और अन्तःकरण को अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाले "निर्दोष" नाम के इस महान् कुएँ को खुदवाया ॥ २२ ॥

सुस्वाद्वेयच्छायं परिणतिहितस्वादुफलदं
गजेन्द्रेणारुग्णं द्रुम इव कृतान्तेन बलिना ।
पितृव्यं प्रोद्दिश्य प्रियमभयदत्तं पृथुधिया,
प्रयीयम्नेनेदं कुशलमिह कर्म्मोपरचितम् ॥ २३ ॥

सुखपूर्वक सेवन करने योग्य छायावाले और परिपक्वता के कारण लाभदायक एवं स्वादुपूर्ण फलों को प्रदान करनेवाले वृक्ष को तोड़ गिरानेवाले गजराज के समान, कराल काल से कवलित, अपने श्रद्धेय चाचा "अभयदत्त" की पुण्यस्मृति में बुद्धिमान् "दक्ष" ने कूएँ के इस विस्तृत और कलापूर्ण "जगत" (चबूतरे) को बनवाया ॥ २३ ॥

पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु ।
मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु ॥ २४ ॥

समय परिज्ञान के लिए मालव संवत् की गणना के अनुसार ५८९ वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर······ ······ (यह कुआँ बनवाया—२६ वें श्लोक से सम्बन्ध) ॥ २४ ॥

यस्मिन् काले कलमृदुगिरा कोकिलानां प्रलापा
भिन्दन्तीव स्मरशरनिभा प्रोषितानां मनांसि ।
भृङ्गालीनां ध्वनिरनुवनं भारमन्द्रश्च यस्मि-
न्नाधूतज्यं धनुरिव नदच्छ्रूयते पुष्पकेतोः ॥ २५ ॥

जिस ऋतु में मन्मथ के तीरों के सदृश कमनीय और कोमल-कण्ठी कोयल की कूक विरही जनों के अन्तस्तल में एक हूक सी पैदा कर देती है और भौंरों का मदमस्त गुञ्जन मदन के ईषत्कम्पित प्रत्यञ्चावाले धनुष की भाँति हर-एक वन में मुखरित होते हुए श्रुतिगोचर होते हैं (उस ऋतु में यह कूआँ बनाया गया—श्लोक २६ से सम्बन्ध) ॥ २५ ॥

प्रियतमकुपितानां रामयन्बद्धरागं
किसलयमिव मुग्धं मानसं मानिनीनाम् ।
उपनयति नभस्वान् मानभङ्गाय यस्मिन्
कुसुमसमयमासे तत्र निर्मापितोऽयम् ॥ २६ ॥

सुमन-समृद्धि के जिस वसन्त में अपने प्रियतम से रूठी हुई मानिनी अङ्गनाओं के अनुरक्त और मोहित मानस को, नूतन-पल्लव की भाँति, गुदगुदाता हुआ मलयानिल, मान-भङ्ग के लिये उद्वेलित करता है, उस वसन्त में इस कूप का निर्माण कराया गया ॥ २६ ॥

यावत्तुङ्गैरुदन्वान् किरणसमुदयं सङ्गकान्तं तरङ्गै-
र्लीलङ्गैनिन्दुबिम्बं गुरुभिरिव भुजैः संविधत्ते सुहृत्ताम् ।

विभ्रत्सौधान्तलेखावलयपरिगति मुण्डमालामिवायं
सत्कूपस्तावदास्तामृतसमरसस्वच्छनिष्पन्दिताम्बु ॥२७॥

जब तक लम्बी भुजलताओं-सी ऊँची लहरों से, प्रस्फुटित किरणों से समन्वित, और साहचर्य के कारण मनोरम लगनेवाले चन्द्र-बिम्ब का आलिङ्गन करता हुआ सागर अपनी मित्रता को प्रकट करता रहेगा, तब तक सुधासदृश, सुस्वादु, निर्मल, प्रवाहपूर्ण जल से युक्त, "जगत्" के तट पर निर्मित विविध वृत्ताकार परिधि को मुण्डमाला के समान धारण करनेवाला, यह कूप अक्षुण्ण, बना रहे ॥ २७ ॥

धीमान् दक्षो दक्षिण सत्यसन्धो ह्रीमाञ्छूरो वृद्धसेवी कृतज्ञः।
बद्धोत्साहः स्वामिनार्येष्वखेदी निर्दोषोऽयं पातु धर्मं चिराय ॥ २८ ॥

विद्वान्, उदार, सत्यव्रती, लज्जाशील, वीर, गुरुजनों के सेवक, कृतज्ञ, उत्साह-सम्पन्न, स्वामी के कार्यों में आलस्यहीन और दोषरहित यह "दक्ष" दीर्घकाल पर्यन्त धर्म-रक्षा में तत्पर रहे ॥ २८ ॥

उत्कीर्णा गोविन्देन

इस प्रशस्ति को गोविन्द ने लिपि बद्ध किया।

शिलालेख का ऐतिहासिक महत्त्व

परिचय—इस अभिलेख को मालवा के शासक यशोधर्मन् के द्वारा राजस्थान के प्रान्तीय शासक के रूप में नियुक्त "धर्मदोष" के भाई 'दक्ष' ने दशपुर में एक कूप बनवा कर उत्कीर्ण कराया। इस अभिलेख की खुदाई गोविन्द नामक किसी व्यक्ति ने की थी। इस अभिलेख से निम्नलिखित ऐतिहासिक बातों पर प्रकाश पड़ता है।

(१) मालव देश का जननायक शासक यशोधर्मन् था, जिसने हूणों को पराजित किया था।

(२) उसने राजस्थान में प्रान्तीय शासक के रूप में अभयदत्त को नियुक्त किया था।

(३) यशोधर्मन् के वंश का नाम औलिकर था।

(४) विष्णुधर्मन् उसका उपनाम था।

(५) यशोधर्मन् के प्रान्तीय शासक अभयदत्त के पूर्व तथा परपुरुषों का संकेत मिलता है।

(६) इस अभिलेख का लिपिक गोविन्द था।

इस प्रसंग में यशोधर्मन् और उससे सम्बन्धित हूण-पराजय की चर्चा अपेक्षित है। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह सर्वविदित है कि गुप्तकालीन भारत पर विदेशी हूणों और शकों का आक्रमण होता रहता था। साथ ही गुप्तों की साम्राज्यवादी शक्ति को सबसे अधिक आघात पहुँचानेवाली घटनाओं में हूणों का आक्रमण भी प्रधान कारण था।

हूण एक खूँखार, खाना-बदोश जाति के थे, जो मूलतः चीन के पड़ोसी माने जाते थे। ये अपने मूल आवास-स्थान से निकल कर सारे फारस और अफ़ग़ानिस्तान को रौंदते हुए गुप्त-साम्राज्य के सम्भवतः कुमारगुप्त के समय में पश्चिमी भाग पर आक्रमण किये थे। किन्तु स्कन्दगुप्त की सामरिक कुशलता के आगे इनकी एक भी नहीं चली और ये वापस लौट गये। किन्तु वे चुप नहीं बैठ रहे, बल्कि कुछ दिनों के बाद पुनः ५वीं सदी ई० के अन्त में 'तोरमाण' के नेतृत्व में आ धमके। इस आक्रमण ने गुप्त-साम्राज्य का रीढ़ ही तोड़ डाली। तोरमाण की चर्चा कल्हण-कृत राजतरंगिणी में और अन्यान्य अभिलेखों में भी पाई जाती है। इन प्रमाणों के आधार पर पता लगता है कि तोरमाण ने गुप्त-साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रान्तों को छीन लिया और अन्त में मध्यभारत तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली। उत्तरापथ में किये जानेवाले हूणों के आक्रमण के सम्बन्ध में 'हर्षचरित' में भी संकेत मिलता है। तोरमाण के एरण अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि मातृविष्णु का छोटा भाई धन्यविष्णु हूण-नरेश का एक सामन्त था। तोरमाण के बाद उसका पुत्र मिहिरकुल हूणों का राजा हुआ। अनुश्रुतियों के अनुसार वह हृदयहीन, क्रूर, आततायी शासक था। नृशंसता ही उसके मनोरंजन का साधन थी। चीनी यात्री युवानच्वाङ् के अनुसार उसने बौद्धों पर अत्याचार कर के उनके विहारों को ध्वस्त कर दिया और मगध के स्वामी बालादित्य पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उसे मुँह की खानी पड़ी। अन्ततोगत्वा कश्मीर में शरण लेकर वहाँ के राजा के साथ षड्यन्त्र करके वहाँ का राजा बन बैठा। परन्तु अपने पापकर्मों के फलस्वरूप वह एक वर्ष के भीतर ही मर गया। यह बालादित्य "नरसिंहगुप्त बालादित्य" न होकर बालादित्य नामधारी कोई दूसरा ही मगध का शासक था। इसी मिहिरकुल को पराजित करनेवाला

यशोधर्मन् था, जिसका वर्णन इस अभिलेख में मिलता है। यद्यपि इस अभिलेख में तो मिहिरकुल का चर्चा नहीं है। किन्तु दशपुर में यशोधर्मन का भी एक विजय स्तम्भ है, जिसमें मिहिरकुल को पराजित करने की चर्चा आयी है :—

स्थाणोरन्यत्र येन प्रणतिकृपणतां प्रापितं नोत्तमङ्ग"
चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्।"

उसकी प्रशस्ति में यह कहा गया है कि यशोधर्मन् ने अपने राज्य की सीमाओं को लाँघकर उन देशों की विजय की, जिन्हें गुप्तसम्राट् तक भी नहीं जीत सकते थे, और उसने ऐसे देशों पर भी आक्रमण किया जिसमें हूण तक भी नहीं प्रविष्ट हो सके थे। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेन्द्र पर्वत तक तथा हिमालय से पश्चिमी सागर तक के सारे राजे उनकी अभ्यर्चना करते थे। इतना ही नहीं, प्रसिद्ध हूण राजा मिहिरकुल भी उसके चरणों को नतमस्तक हो छूते थे। पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर यह प्रतीत होता है कि मिहिरकुल दो बार पराजित हुआ था। एक बार तो मगध में बालादित्य के द्वारा और दूसरी बार मध्यभारत में यशोधर्मन् के द्वारा। यशोधर्मन् के बारे में इन बातों का संकेत हमें उसके विजय-स्तम्भ से मिलता है। प्रस्तुत अभिलेख में मिहिरकुल और यशोधर्मन् के युद्ध का सकेत नहीं मिलता है। इसमें केवल "प्राचो नृपान् सुबृहतश्च बहूनुदीच "इस श्लोक से यह पता लगता है कि यशोधर्मन् ने पूरब के ५० बड़े-बड़े और उत्तर के बहुत से राजाओं को सन्धि और विग्रह से वश में करके लोक में प्रिय और दुर्लभ "राजाधिराज परम स्वामी" का दूसरा उपनाम प्राप्त किया था। उसके भुजबल से अर्जित पृथिवी पर अनेक देश सुख से अपना समय बिताते थे।

यशोधर्मन् किस प्रकार अपनी शक्ति-सम्पन्नता को प्राप्त कर राजनीतिक क्षेत्र में सहसा इतना सफल हो सका, इसके बारे में इतिहास मौन है। उसकी उत्पत्ति, वंश आदि के बारे में कुछ भी निश्चित बातें मालूम नहीं होतीं। केवल इस अभिलेख में उसके कुल का इतना संकेत मिलता है कि उसके कुल का नाम "औलिकर" था। किन्तु उस वंश का वर्णन नहीं मिलता है। अभिलेख के पाँचवें श्लोक में उसे "जनेन्द्र." (जननायक) कहा गया है। इस शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि यद्यपि इसकी उत्पत्ति किसी राजवंश में नहीं हुई थी, फिर भी हूणों के विनाश करने में इसने अपनी भुजाओं के पराक्रम को दिखाया था। अतः उसी पराक्रम के प्रभाव से राज्यपद को प्राप्त कर जनता का प्रिय

शासक बन गया था। उनकी विजय-प्रशस्ति और इस कूप-लेख के आधार पर यह ज्ञात होता है कि वह मालव का राजा था और उसकी राजधानी मन्दसोर (पश्चिमी मालवा) थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस काल का यह राजनीतिक दिग्दर्शन किया जा रहा है, उसमें यशोधर्मन का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु आश्चर्य है कि इसके वंश और व्यक्तित्व के विषय में इतिहासकार पर्याप्त सामग्री के अभाव में अब तक अपनी लेखनी को सार्थक नहीं कर पाये हैं।

इस अभिलेख से यशोधर्मन के द्वारा प्रान्तीय शासक के रूप में नियुक्त "अभयदत्त" और "दक्ष" के कुल का परिचय मिलता है। इस अभिलेख के द्वारा "दक्ष" के षष्ठिदत्त नामक पूर्व पुरुष का भी संकेत मिलता है, जो यशोधर्मन् के वंशजों द्वारा नियुक्त राज-सेवक था। उस षष्ठिदत्त की कुलीन भार्या से उसी के समान उन्नत, गौरवशाली इसका सुपुत्र "वराहदास" नाम से प्रसिद्ध हुआ। और वराहदास का तेजस्वी पुत्र 'रविकीर्ति' हुआ, जिसने अपने कुल के गौरव को बढ़ाया। उस रविकीर्ति की सध्वी भार्या भानुगुप्ता के गर्भ से तीन पुत्ररत्न उत्पन्न हुए, जिनका नाम—भगवद्दोष, अभयदत्त और दोषकुम्भ था। यही अभयदत्त यशोधर्मन् द्वारा पश्चिम देश में राजस्थान का प्रान्तीय शासक नियुक्त हुआ था। उसके बाद उसके छोटे भाई दोषकुम्भ का पुत्र धर्मदोष ने अभयदत्त के कार्यभार को ग्रहण किया और उसी धर्मदोष के छोटे भाई "दक्ष" ने दशपुर में एक कूप का निर्माण करवाया। उसी कूप में यह अभिलेख राजा की आज्ञा से गोविन्द ने उत्कीर्ण किया। वहीं पर यह अभिलेख लिपिबद्ध है। कूप पर उत्कीर्ण होने के कारण ही इसे 'कूप-लेख' कहते हैं।

अभिलेख का साहित्यिक वैशिष्ट्य

साहित्यिक विशेषता की दृष्टि से इस अभिलेख में हमें अनेक चमत्कार देखने को मिलते हैं। विशेषकर ये चमत्कार छन्द-योजना और अलङ्कार-प्रयोग में दीख पड़ते हैं। जहाँ तक इस अभिलेख के विषय का विवेचन है, उसका स्पष्टीकरण इसके ऐतिहासिक महत्त्व के प्रसंग में लगभग हो चुका है। हाँ! साहित्यिक दृष्टि से हम इसके विषयगत वैशिष्ट्य का भी यदि इस प्रकार विवेचन करें तो वह अप्रासंगिक न होकर पाठकों के लिये रुचिकर ही सिद्ध होगा। संस्कृत-साहित्य की "आदौ मङ्गलं विधेयम्" इस परंपरा के अनुसार कवि ने इस प्रशस्ति का प्रारम्भ भगवान् शंकर की सुन्दर वन्दना से किया है।

उसके बाद कवि अभिलेख के विषय की ओर अपना कदम उठाकर कूप और तत्कालीन जननायक यशोधर्मा की प्रशंसापरक स्तुति करता है। तदनन्तर इस वंश के राज्य करनेवाले राजाओं की छत्रछाया ने शासन करने वाले षष्ठिदत्त और उसके वंशजों का चरित्रचित्रण समास-पद्धति से किया गया है। इसी प्रसंग में षष्ठिदत्त के वंशज शासक 'दक्ष' के द्वारा अपने चाचा 'अभयदत्त' की स्मृति में कूप निर्माण-कार्य का संकेत भी किया गया है। इस कूप का निर्माण-कार्य मालव संवत् ५८९ में वसन्त ऋतु में सम्पन्न हुआ था, जिसका उल्लेख प्रशस्ति के अन्तिम भाग में किया गया है। अन्त में कवि कूप और उसके निर्माता दक्ष के दीर्घजीवी होने की कामना के साथ अपनी इस प्रशस्ति को समाप्त कर देता है।

इस छोटे से अभिलेख में कवि ने बहुत अधिक छन्दों का प्रयोग कर अपनी विविध-छन्द-प्रियता और उसमें सफलतापूर्वक काव्य निर्माण-कौशल का एक साथ परिचय दिया है। इस लघु-काव्य-कलेवर में ही कवि ने लगभग १२ छन्दों की योजना की है। अब हम पूरी प्रशस्ति में आये छन्दों की एक मोटी सूची के माध्यम से यह देखेंगे कि कवि ने किस प्रकार सब प्रकार के छोटे-बड़े छन्दों के प्रयोग में अपनी काव्यकला का परिचय दिया है। कवि ने अन्य छन्दों की अपेक्षा मालिनी का सर्वाधिक उपयोग किया है देखिये—इस छन्द का प्रयोग श्लोक संख्या—३, ५, ११, १३, १७, १८, २०, २१, २२, २६ में किया गया है। इस तरह पूरी प्रशस्ति के एक तिहाई अंश में इसका प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार श्लोक संख्या १ में पुष्पिताग्रा, श्लोक संख्या ४ में उपजाति, श्लोक संख्या १० में इन्द्रवज्रा, श्लोक संख्या २५ में मन्दाक्रान्ता, श्लोक संख्या ९ में शार्दूलविक्रीडित, श्लोक संख्या २८ में शालिनी जैसे छन्दों का भी प्रयोग एकाकी रूप न किया गया है। इसी तरह श्लोक संख्या ६, ७ में वसन्ततिलका और संख्या २, २३ में शिखरिणी का प्रयोग मिलता है। श्लोक संख्या ८, १९ और २७ में हम स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्द का भी दर्शन करते हैं। श्लोक संख्या २४ में हमें आर्या और श्लोक संख्या १४ और १५ में अनुष्टुप् की झलक भी मिल जाती है। छन्द प्रयोग के उपर्युक्त सिंहावलोकन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि आर्या और अनुष्टुप् जैसे लघु-छन्दों के प्रयोग के साथ ही मालिनी, वसन्ततिलका और पुष्पिताग्रा जैसे कोमल प्रवाहपूर्ण छन्दों में अपना

मन रमाता हुआ शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी और स्रग्धरा जैसे लम्बे छन्दों का उपयोग भी अनायास ही कर बैठता है। इस प्रकार हम कवि की इस छन्द-चौकड़ी की उपमा हिरण-चौकड़ी से दे सकते हैं जो क्षण-प्रतिक्षण करने में नवीनता लाकर भावुकों के मन को हठात् मोह लेती है।

जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है उसमें कवि ने शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा अर्थालंकारों में उपमा का सर्वाधिक प्रयोग किया है। सम्पूर्ण अभिलेख में उपमालंकार छाया गया है। अन्य सभी अलंकार इस अलंकार-सम्राट् की ही अर्चना-वन्दना में व्यस्त-से नजर आते हैं। उपमा के अतिरिक्त अन्य किसी भी अलंकार का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं के बराबर है। मंगल-श्लोक में ही कवि ने उपमा की अनुपम छटा दिखायी है। स्थान-स्थान पर उपमा में रूपक और उत्प्रेक्षा के पुट से इस अलंकार का विलास और भी निखर उठता है। अभिलेख में अलंकार-योजना के पर्यालोचन से यह ज्ञात होता है कि कवि ने उपमालंकार का प्रयोग १, ११, १३, १९, २१ और २३ संख्यक श्लोकों में किया है और रूपक मिश्रित उपमा का प्रयोग ५ और १५ संख्यक श्लोक में किया है। अनुप्रास और यमक मिश्रित उपमा का प्रयोग श्लोक सं० १७, २० और २२ में मिलता है। वसन्त-वर्णन के प्रसंग में कवि ने उत्प्रेक्षा-मिश्रित उपमा का सुन्दर प्रयोग किया है। देखिये—२५ वें श्लोक में—"स्मरशर निभाः कोकिलानां प्रलापा. प्रोषितानां मनांसि भिन्दन्ति इव" इस उक्ति के द्वारा और 'भृङ्गालीनां ध्वनिः पुष्पकेतो. आधुनज्य धनुरिव' के द्वारा उपमा की मनोरम छटा दीख पड़ती है। यहाँ पर कोकिल-प्रलाप की उपमा कामदेव के बाणों से दी गयी है और वह कोकिल प्रलाप परदेशियों के मन को मानो छेद रहा है। इसी प्रकार भौंरों की मधुर झंकार कामदेव के धनुष की टंकार की भाँति समस्त वन प्रदेश में गूँज रही है। इसी प्रकार प्रिय पाठक-गण पूर्वोक्त श्लोकों में उपरि-निर्दिष्ट अलंकारों का दर्शन-विवेचन स्वयं कर सकते हैं। स्वल्प शब्दों में ही वसन्त जैसे कमनीय और मादक ऋतु का वर्णन कवि के वर्णन-सौन्दर्य का अनुपम निदर्शन है। वसन्त-वर्णन के प्रसंग में कवि अत्यन्त सावधानी से काव्यकला का प्रयोग करता नजर आता है क्योंकि दो ही श्लोक में उसने वसन्त के समस्त वैभव को नाप कर गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है। वर्णन सौष्ठव के साथ ही कवि की पद शय्या भी उन्नत कोटि की है। रस और भाव के अनुकूल शब्द-चयन कवि की भावुकता को प्रकट करता है। भाषा और प्रांजलता, विदग्धता की

इसलिये सुन्दर है कि काव्य में आद्योपान्त प्रवाह बना है। किन्तु इस प्रवाह में केवल एक ही खटकनेवाली बात है और वह है छन्द-वैविध्य। मेरे विचार से यदि एक या दो छन्दों का ही आश्रय लिया जाता तो काव्य प्रवाह की विच्छिन्नता का प्रश्न ही नहीं उठता। दोष दृष्टि से केवल यह कहा जा सकता है कि कवि स्थलविशेष पर पुनरुक्ति दोष से अपने को नहीं बचा पाया है क्योंकि प्राय एकार्थक शब्दों का प्रयोग केवल पाद पूर्ति के लिए कर दिया गया है। रीति की दृष्टि से प्रधानतया काव्य का प्रतिनिधित्व वैदर्भी रीति ही करती है। भाषा की दृष्टि से यद्यपि परिचित, सुबोध और असमस्त शब्दों का ही प्रयोग बहुतायत से किया गया है फिर भी कहीं-कहीं लम्बे समास और दुरूह कल्पनाओं का भी आश्रय लिया गया है। समस्त पदों का प्रयोग श्लो० स० ९ और २६ में मिलता है। पूर्वोक्त आलोचना से हमें यह प्रतीत होता है कि जहाँ पर कवि एक ओर अपने भावपक्ष को प्रकट करता है वहीं पर दूसरी ओर अपने कलापक्ष को प्रकट करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाता है। फिर भी यह प्रशस्ति किसी प्रारम्भिक कवि की नहीं वरन् किसी सहृदय काव्यकला-मर्मज्ञ की ही है।

टिप्पणी

जनेन्द्र—इसका अर्थ जन-नेता होता है। इस शब्द से यह ध्वनित होता है कि यशोधर्मन् की उत्पत्ति किसी राजकुल में तो नहीं हुई थी किन्तु हूणों के विनाशक होने के कारण और अपने पराक्रम और राजकीय गुणों के कारण वह राज्यसिंहासन प्राप्त करके जनता का प्रिय पात्र हो गया था।

प्रमदवनम्—जहाँ पर राजा अपनी रानियों के साथ विहार करता है उस उद्यान को प्रमदवन कहते हैं।

औलिकर—इस शब्द का अर्थ यद्यपि स्पष्ट नहीं है फिर भी यशोधर्मा के वंश का "औलिकर" यह प्राकृत नाम समझा जाता है फ्लीट महोदय के अनुसार "औलि" का अर्थ 'उष्ण' अथवा 'शीत' और 'कर' का अर्थ 'किरण' है। उनका संकेत संभवत सूर्य अथवा चन्द्र वंश की ओर है।

भानुगुप्ता :—फ्लीट महोदय के अनुसार "भानुगुप्ता" संभवत. गुप्त सम्राट् 'भानुगुप्त' की बहन थी। इससे यह संकेत मिलता है कि उन दिनों में ब्राह्मण क्षत्रिय कन्या से भी विवाह करते थे।

राजस्थानीयवृत्या—"राजस्थानीय" शब्द का अर्थ "क्षेमेन्द्र" के "लोकप्रकाश" में प्रजापालनार्थं "उद्धृति रक्षति च स राजस्थानीय" अर्थात् जो प्रजा का रक्षक और आश्रयदाता हो, उसे राजस्थानीय अर्थात् वायसराय Viceroy कहते हैं। किन्तु कभी-कभी अभिलेखों में यह शब्द राज्य के सामान्य अधिकारी के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

इससे यह प्रतीत होता है कि 'अभयदत्त' 'यशोधर्मन्' के साम्राज्यान्तर्गत पश्चिमी प्रान्तों का वायसराय था और दशपुर उसकी राजधानी थी।

निर्दोष नाम—कुछ लोग 'निर्दोष' शब्द को 'उदपान' का विशेषण बताते हैं तो कुछ लोग इसे व्यक्तिवाचक संज्ञा। हमारे विचार से प्रथम मत उपादेय है।



(५) विग्रहराजस्य (वीसलदेवोपनामकस्य) देहली-स्तम्भलेखः (वि० सं० १२२०)

ओं ॥ संवत् १२२० वैशाख शुदि ॥ १५ ॥
शाकम्भरीभूपतिश्रीमदावेल्लदेवात्मजश्रीमद्वीसलदेवस्य ॥
॥ ओं अन्यों नाम रिपुप्रियाननयो प्रस्थानदिदन्नत्रं
प्रत्यर्थाणि तृणानि, वैभवनिलप्नाष्टं यशस्वाशास्नु ।
मार्गो लोकविरुद्ध एव विजन शून्यं मनो विद्विषाम्
श्रीमद्विग्रहराजदेव । भवत प्राप्ते प्रयाणोत्सवे ॥ १ ॥

ओम् ॥ संवत् १२२० वैशाख शुक्लपक्ष ॥ १५ ॥

शाकम्भरी (साम्भर) के राजा श्रीमान् आवेल्लदेव के पुत्र श्रीमान् वीसलदेव का (अभिलेख) ।

हे श्रीमान् विग्रहराजदेव ! जब आप अपनी विजययात्रा करते हैं तो रिपु-ललनाओं की आँखों में आँसू और शत्रुदल के पाँवों तले तृण दिखाई देते हैं । और वैभव के कारण आपकी कीर्ति समस्त दिशाओं में फैल जाती है । आपकी विजय-यात्रा में केवल अनाचार का मार्ग ही नहीं अपितु शत्रुओं का मन भी शून्य हो जाता है [अनाचार-पथ के भिन्न होने और शत्रु मन के शून्य होने का तात्पर्य यह है कि विजय यात्रा के प्रसङ्ग में अपनी सेना, मद और पराक्रम के माध्यम से समस्त प्रत्यन्त-प्रदेशों में व्याप्त होकर भी वह केवल अनाचार के मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता, वह सदा शिष्टाचार का पालन करता है । अथवा उसके प्रभाव से कोई भी व्यक्ति अनाचार मार्ग पर पैर नहीं रखता, जिससे वह पथ सर्वदा जनशून्य हो जाता है । उसको विजययात्रा करने पर शत्रु अर्दित हो जाता है ।] ॥ १ ॥

लीलामन्दिर सोदरेषु भवतु स्वान्तेषु वामभ्रुवाम्
शत्रूणां तु न विग्रहक्षितिपते स्वास्थ्योऽत्र वासान्तर ।
उत्फुल्ला वा पुरपोतननम्य भवतो नाम्येत वाचा निवे-
र्निर्म्यात्मद्रुतयिथः किन्नु भवान् क्रोडे न निद्रायितः ॥ २ ॥

हे लोलनिरेतन विग्रहराज ! रमणियों के सजातीय मानस-मन्दिर में आपका निवास है किन्तु आपके शत्रुओं का नहीं। हे राजन् ! रमणियों के सजातीय हृदय में आपका विलास उचित ही है इसमें शंका का अवसर नहीं। क्योंकि क्या आपने विष्णु भगवान् के समान समुद्र-मन्थन से उत्पन्न लक्ष्मी की गोद में शयन नहीं किया है ?

(भाव यह है कि राजा ने विष्णु भगवान् के समान ही शत्रुरूपी समुद्र को मथकर विजय लक्ष्मी को प्राप्त किया है।) ॥ २ ॥

॥ ओ ॥

आविन्ध्यादाहिमाद्रेर्विरचितविजयस्तीर्थयात्राप्रसङ्गा-
दुद्ग्रीवेषु प्रहर्त्ता नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रसन्नः।
आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनाभि-
र्देवः शाकम्भरीन्द्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः ॥ ३ ॥

ओम् ॥ जिसने तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में ही विन्ध्याचल से लेकर हिमालय पर्वत तक के प्रदेश को जीत लिया है, और उन प्रदेशों में सिर उठानेवाले राजाओं को नतमस्तक कर दिया है तथा आनत-मस्तक राजाओं पर अपनी प्रसन्नता को प्रकट किया है, जिसने म्लेच्छों का समूल नाश करके आर्यावर्त देश को पुनः 'आर्यों का देश' इस नाम से सार्थक बनाया है वह साम्हर का स्वामी राजा वीसलदेव विजयी हो ॥ ३ ॥

ब्रूते सम्प्रति चाहमानतिलकः शाकम्भरीभूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी सन्तानजानात्मनः।
अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः
शेषस्वीकरणाय मास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः ॥ ४ ॥

चौहान कुलभूषण साम्हर के विजयी राजा विग्रहराज अब अपने कुलजों से कहते हैं कि हमने हिमालय से लेकर विन्ध्याचल के मध्यवर्ती प्रदेशों को कर देने के लिये बाध्य कर दिया है (अपने अधीन कर लिया है)। अब अवशिष्ट पंजाब आदि प्रान्तों को अपने अधिकार में करने में तुम लोगों का मन उद्योग-शून्य नहीं हो ॥ ४ ॥

संवत् श्रीविक्रमादित्ये १२२० वैशाख सुदि १५ गुरौ ॥

लिखितमिदं राजाऽऽदेशात् ज्योतिषिकश्रीतिलकराजप्रत्यक्षं गौडान्वय-कायस्थमाहवपुत्र श्रीपतिना। अत्र समये महामन्त्री राजपुत्रश्रीसल्लक्षणपालः ॥

विक्रम संवत् १२२० वैशाख शुक्ल की पूर्णिमा तिथि एवं गुरुवार।

राजा विग्रहराज के आदेश से "श्री तिलकराज" नाम के ज्योतिषी जी के समक्ष "गौड" वंश में उत्पन्न कायस्थ माहव के पुत्र ने इस लेख की लिपि की। इन दिनों में राजकुमार "श्री सल्लक्षणपाल" महामन्त्री थे ॥

स्तम्भलेख का ऐतिहासिक महत्त्व

परिचय —दिल्ली के चौहानवंशी राजा विग्रहराज (बीसलदेव) ने हिमालय की उपत्यका में विद्यमान मौर्यसम्राट् अशोक के एक स्तम्भ पर इस अभिलेख को उत्कीर्ण कराया था। उस स्तम्भ को बाद में विक्रम की १५ वीं शताब्दी में दिल्ली के तत्कालीन यवन शासक फिरोजशाह ने वहाँ से मँगवा लिया, जो आज भी "फ़िरोजशाह का कोटला" इस नाम से प्रसिद्ध स्थान में विद्यमान है। उसी स्तम्भ पर यह अभिलेख अशोक के धर्मोपदेश के नीचे उत्कीर्ण है। इस अभिलेख के चार श्लोकों में विग्रहराज की वीरता, उसकी यशोव्याप्ति और राज्यसीमा का वर्णन किया गया है। इस छोटे से अभिलेख की छाया में हम भारतवर्ष के एक महत्त्वपूर्ण शासक जाति के इतिहास की झलक पाने का प्रयास कर सकते हैं और वह जाति है अन्तिम हिन्दूसम्राट् हर्षवर्धन के बाद उत्तर भारत में राज्य करनेवाला राजपूत वंश। अभिलेख के चौहानवंशी राजा का सम्बन्ध इन्हीं राजपूत वंश से स्थापित किया जाता है। अब हम संक्षेप में अभिलेख के नायक राजा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में राजपूत वंश का सिंहावलोकन इस प्रकार कर सकते हैं :—

राजपूत—सम्राट् हर्षवर्धन की जीवन-लीला जब भारतवर्ष के राजसिंहासन रूपी रंगमंच को सूनी कर गई तो उसके योग्य अधिकारी के अभाव में यहाँ की राजनीतिक एकता विच्छिन्न-सी हो गयी। संगठित साम्राज्य टुकड़ों में बँटने लगा और कुछ मनचले सामन्त अपना सिर उठाकर पास-पड़ोस के राज्यों की ओर अपनी लोलुप दृष्टि से ताक झाँक करने लगे। इसी विशृङ्खल राजनीतिक परिस्थिति में नये राजवंशों की स्थापना हुई, जो सामूहिक रूप में राजपूत कहलाये। इसीलिये यह युग भारतीय इतिहास में 'राजपूत-युग' के नाम से

प्रसिद्ध है। इस युग का इस देश के इतिहास मे न केवल राजनीतिक दृष्टि से अपितु धार्मिक और सास्कृतिक दृष्टि से भी अपना विशेष महत्त्व है। एकच्छत्र साम्राज्य के अभाव मे देश को राजनीतिक एकता के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर भी मुसलमानों के आक्रमणों मे भारतीय स्वतत्रता, सस्कृति तथा धर्म को रक्षा राजपूतो ने अदम्य साहस से की थी।

राजपूत कौन थे —राजपूत शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम हर्ष की मृत्यु के बाद के काल में प्रारम्भ हुआ। यद्यपि राजपुत्र शब्द अत्यन्त प्राचीन है और उसी का रूपान्तर शब्द 'राजपूत' है किन्तु इस शब्द के पहले प्रयोग नहीं होने के कारण कुछ ऐतिहासिकों ने इस जाति को एक विदेशी जाति मान लिया और इसके विकास का समय सातवीं सदी का उत्तरार्ध माना। उनके अनुसार राजपूत जाति, मध्य-एशिया से आये हुए शक सीथियन आदि भिन्न भिन्न जातियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई। इस मत के प्रवर्तक हैं राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक कर्नल "टाड" महोदय। उन्होने पृथ्वीराज रासो के अग्निकुलवाले वर्णन से प्रभावित होकर भारत के राजपूतों में और मध्य-एशिया की शक तथा सीथियन जातियों मे पर्याप्त सादृश्य की कल्पना कर यह सिद्ध किया कि गुप्तकाल के प्रारंभ और उत्तर काल मे भारत मे आनेवाले शक, पल्लव, हूण, सीथियन आदि जातियाँ यहाँ आकर बस गयीं और यहाँ के हिन्दुओ के आचार-विचार और धर्म मे घुलमिल गयीं। फल स्वरूप, हिन्दूधर्म मे दीक्षित इन विदेशियों की एक नयी जाति बन गयी, जिसमे मध्य-एशिया में निवास करनेवाली पश्चिमी जातियों के युद्धप्रियता आदि गुणो के साथ हिन्दू धर्म और सामाजिक मान्यताओ के प्रति उनकी निष्ठा तथा स्वाभिमान की बातें सम्मिलित हो गयीं। इन नये कुलों के प्रधान नायक अपनी उत्पत्ति प्राचीन हिन्दू देवताओं—सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि से बतलाने लगे। फलस्वरूप, हिन्दू पुरोहितो ने उन्हें हिन्दू-धर्म के सरक्षक के रूप मे, क्षत्रियों के रूप मे स्वीकार कर लिया और तब से वे लोग अपने को 'राजपूत' कहने लगे। इस प्रकार नये क्षत्रिय और राजपूत समानार्थक समझे जाने लगे और उत्तरी मैदानों के जिस भाग मे मुख्य वे आकर बसे उसका नाम 'राजपुताना' पड गया।

किन्तु कुछ ऐसे भी तर्कपूर्ण तथ्य हैं, जिनके आधार पर अन्य विद्वानो ने इस पूर्वोक्त मान्यता का खण्डन किया है। इस मान्यता के विरुद्ध प्रधान आपत्ति तो यह है कि वस्तुत: यदि भारत की सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति विदेशी है तो भारत

की प्राचीन क्षत्रिय जाति क्या हुई ? क्या वह पूर्णतः लुप्त हो गयी ? अगर वह लुप्त हो गई तो कब और कैसे ? ये प्रश्न ऐसे हैं जो राजपूत वंश के विषय में विदेशी धारणा का खण्डन कर कुछ नया सर्वमान्य युक्तिसंगत सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इस भारतीय मत के प्रतिपादकों एवं समर्थकों में राजपूताने के प्रामाणिक इतिहास-लेखक पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का नाम उल्लेखनीय है। राजपूत का वास्तविक इतिहास इस प्रकार है :—

'राजपूत' शब्द संस्कृत के 'राजपुत्र' का रूपान्तर है। प्राचीनकाल में राजपुत्र शब्द का प्रयोग किसी जाति-विशेष के होकर राजकुमारों अथवा राजवंशियों के लिये होता था। चूँकि प्राचीन भारत में अधिकांश क्षत्रिय राजाओं का ही शासन था, अतः सामान्य रूप से राजपुत्र शब्द क्षत्रिय राजकुमारों का ही सूचक था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पूर्व से ही राजकुमारों के लिए 'राजपुत्र' 'महाराजपुत्र' आदि शब्दों का प्रचलन था। वास्तव में राजपूत शब्द का जातिविशेष अथवा वर्णविशेष के अर्थ में प्रयोग मुसलमानों के भारत में प्रविष्ट होने के बाद से हुआ। मुसलमानों के लगातार आक्रमण से क्षत्रियों के राज्य समाप्तप्राय हो गये। जो कुछ बचे भी थे उन्होंने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर ली और उनके सामन्त बन गये अथवा साधारण प्रजा की कोटि में आ मिले। राजवंश के होने के कारण भारतीय हिन्दू जनता इन्हें 'राजपुत्र' ही कहती थी। किन्तु मुसलमानों को 'राजपुत्र' उच्चारण में कठिनाई होती थी। अतः उन्हें वे सरलतापूर्वक 'राजपूत' ही कहने लगे। तभी से यह शब्द जातिविशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। संक्षेप में इस शब्द के इतिहास का यही रूप है।

प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार भी राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान हैं जो अपने को चन्द्रवंशी तथा सूर्यवंशी मानते हैं। भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्यों की मूलतः दो प्रमुख शाखायें थी, जो क्रम से सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के नाम से विख्यात थी। बाद में एक तीसरी शाखा अग्निवंशी भी हो गयी। इन्हीं तीन वंशों में आर्य जाति का समावेश हो जाता था किन्तु राजनीतिक जीवन में क्षत्रिय वर्ण की प्रधानता के कारण इन वंशों की परम्परा साधारणतः क्षत्रिय वर्णों के साथ स्थापित हो गयी और क्षत्रियों के विभिन्न वंश मूलतः इन्हीं तीन वंशों के नाम से विख्यात हुए। कालान्तर में परिवार-विशेष के नाम पर अथवा उसके मुख्य व्यक्तियों के नाम पर

वंशों की परम्परा चल पड़ी। हर्षवर्धन के बाद 'राजपूत' शब्द से समझे जानेवाले राजवंशों का संबंध भी उन्हीं प्राचीन क्षत्रियवंशों से है। हर्षवर्धन के बाद उत्तर भारत की राजनीति में तथा मुसलमानों से टक्कर लेनेवाले राजवंशों में निम्नलिखित वंश प्रमुख माने जाते हैं —

१—कन्नौज का गुर्जर प्रतिहार वंश।
२—कन्नौज का गहड़वार वंश।
३—बुन्देलखण्ड का चन्देल वंश।
४—मालवा का परमार वंश, और
५—दिल्ली एवं अजमेर का चौहान वंश।

अभिलेख के विग्रहराज का सम्बन्ध इन्हीं राजपूत वंशों के चौहान वंश से है।

चौहान वंश — 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'पृथिवीराज विजय' के अनुसार चौहान 'चाहमान' नामक व्यक्ति के वंशज थे, जिनकी उत्पत्ति सूर्य से हुई थी। किन्तु चारणों के कथनानुसार चौहान अग्निकुल के थे और उनकी उत्पत्ति 'आबू' पर्वत पर हुई थी। विदेशी मान्यता चौहान को भी प्रतिहारों की भाँति अग्नि से युद्ध की गयी विदेशी जाति ही मानती है। किन्तु कुछ विद्वान् चौहान की अग्निकुलवाली मान्यता की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि अन्य राजवंशों के साथ चौहानों ने भी यहीं की अग्नि को साक्षी रखकर अरबों तथा तुर्कों के आक्रमण से देश की रक्षा करने की शपथ ली थी। अतएव आधुनिक इतिहासवेत्ता चौहानों को भी प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान मानते हैं। भारतीय इतिहास में चौहान वंश का बहुत ही महत्त्व है। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि शाकम्भरी अथवा साम्हर प्रदेश, जो जोधपुर तथा जयपुर राज्यों की सीमा पर विद्यमान है, इनका प्रधान केन्द्र या स्थान था। इस वंश की भी कई शाखायें थीं। परन्तु शाकम्भरी शाखा सर्वाधिक प्रसिद्ध मानी गयी है। इस वंश की स्थापना वासुदेव ने की थी, परन्तु उनके समय का निश्चयीकरण नहीं किया जा सकता। गूवक द्वितीय ने दिल्ली के तोमर राजा को परास्त कर उसकी हत्या कर दी। विक्रम संवत् १०३० अर्थात् ९७३ ई० का हर्ष प्रस्तर-लेख, चौहान वंश के इतिहास की प्रारम्भिक सीमा को गूवक प्रथम तक बताता है जब कि साहित्यिक ग्रन्थों में इस वंश की तालिका वासुदेव तक देखी जाती है। चौहानों और तोमरों के युद्ध में चौहानों को विजय भी मिली और दिल्ली का शासनसूत्र उनके हाथों

में आ गया। वाक्पति प्रथम तथा सिंहराज इस वंश के पराक्रमी राजा थे। विग्रह-राज द्वितीय के समयतक चौहान राज्य प्रतिहार-राज्य के प्रभाव से मुक्त हो गया। उसने नर्मदा नदी तक अपने राज्य की सीमा बढ़ा कर गुजरात के चालुक्य राजा मूलराज को पराजित किया। उसके बाद अभयराज ने मालवा के परमारवंशी राजा के सेनापति को पराजित कर उज्जैन तक अपनी विजयपताका फहरायी। अभयराज ने अजमेर नगर की स्थापना की। चौहान अभिलेखों के अनुसार चौहानवंशी गोविन्दराज द्वितीय, अजयराज तथा अर्णोराज ने मुसलमानों को पराजित किया था। चौहान वंश का दूसरा प्रसिद्ध राजा विग्रहराज चतुर्थ (वीसलदेव) हुआ। इसने मुसलमानों से संघर्ष जारी रखा और यमुना तथा सतलज नदियों के बीच का प्रदेश मुसलमानों से छीन लिया।

अभिलेख के अन्तिम श्लोक में—" ... "अस्माभि करद व्यधायि हिम-वद्विन्ध्यान्तरालं भुवं" इस उक्ति के द्वारा यह मालूम पड़ता है कि विग्रहराज ने हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच की सारी भूमि को अपने अधीन कर लिया था यद्यपि यह उक्ति अतिरंजित प्रतीत होती है, फिर भी बिजोलिया (मेवाड़) में मिले एक लेख से उनका दिल्ली को जीतना सिद्ध होता है। डाक्टर आर० एस० त्रिपाठी के अनुसार सम्भवतः विग्रहराज ने दिल्ली को गहड़वाल राजा विजयचन्द्र से छीना था। विग्रहराज बड़ा ही वीर, धीर और सफल सैन्यसंचालक था। इसके साथ ही वह स्वयं प्रतिभाशाली कवि, ललित कला का उपासक और साहित्यिकों का संरक्षक भी था। महाकवि सोमदेव ने वीसलदेव के चरित्रों का का चित्रण करने के लिये 'ललित विग्रहराज' की रचना की थी। इस प्रकार वह चौहानवंश का एक उन्नायक ही नहीं बल्कि उसके प्रभाव को विस्तृत करनेवाला उत्साही राजा था। इस वंश के अन्तिम राजा 'पृथिवीराज' का उत्साह, देशप्रेम और वीरता भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी है, किन्तु आपसी मतभेद के कारण यवनों के हाथों इसके दुःखद अवसान ने भी इतिहास के पृष्ठों को धूमिल-सा बना दिया है।

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

प्रश्नपत्राणि

(१)

यो वृत्त्यर्थमुपास्यते सुरगुणैः सिद्धैश्च सिद्धयर्थिभि-
र्ध्यानैकाग्रपरैर्विधेयविषयैर्मोक्षार्थिभिर्योगिभिः ।
भक्त्या तीव्रतपोधनैश्च मुनिभिः शापप्रसादक्षमै-
र्हेतुर्यो जगतः क्षयाभ्युदययोः पायात् स वो भास्करः ॥

अथ श्लोको यस्माच्छिलालेखादुद्धृतः स कस्य नृपते शासनकाले, कस्मिन् प्रसङ्गे, कुत्र, केन कविना च रचित इति निरूपणीयम् ।···· १०

अम्भो नाम रिपुप्रियानयनयो प्रत्यर्थिदन्तान्तरे,
प्रत्यक्षाणि तृणानि, वैभवमिलन्काष्ठ यशस्तावकम् ।
मार्गो लोकविरुद्ध एव विजन शून्य मनो विद्विषा,
श्रीमद्विग्रहराज देव ! भवत. प्राप्ते प्रयाणोत्सवे ॥

पद्यमिद व्याख्याय कोऽयं विग्रहराज. स कदा कुत्र च बभूव ? अयं लेखस्तेन कदा कुत्र कुतश्चोल्लेखित: ? १०

(२)

(क) महरौलीलौहस्तम्भोत्कीर्णलेखस्य चन्द्रनृपते परिचय प्रदाय पद्यमिदं व्याख्येयम्— ···१०

यस्योद्वर्तयत: प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्,
वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका,
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिण: ॥

(ख) यशोधर्मण. परिचय देशकालनिर्देशपूर्वक प्रदाय पद्यमिद व्याख्यायताम्— ···१०

स्निग्धश्यामाम्बुदाभै. स्थगितदिनकृतो यज्वनामाज्यधूमै-
रम्भोमेध्यं मघोनाऽवधिषु विदधता गाढसम्पन्नसस्या. ।

कृपाशान्तिनां करमलहूलाधानचूताकुराम
राजन्वन्तो रमन्ते भुजविजितभुवा भूरया देव दत्ता ॥

(३)

मत्तमगण्डभित्तिविच्युतदानबिन्दुसिक्तासिताचलसहस्रविभूषितायाः ।
पुष्पावनम्रनरमण्डवनवाया भूमे पर तिलकभूतमिदं क्रमेण ॥
प्राचो नृपान् सबृहतश्च धनूनाच सम्प्रायधा च वदान् प्रविधाय देव ।
नामापर जगति कान्तमदो दुराप राजाधिराज परमेश्वर इत्युदूढम् ॥
प्रसङ्गतु सर व्याख्यायतामन्तर कुत्र यश्च स एव रचि च लघ्व । १०

(४)

शिलालेखनामाट्टङ्कनपुरस्सर व्याख्यायतामनोनिर्दिष्टश्लोकेषु द्वयम्— १०

(क) छिन्नस्यव विसृज्य या नगपतेर्माधिनस्त्वरा,
मूर्त्या कमजितावनी जवन कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ ।
शान्तस्यव महावन हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्
अद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोर्यत्नस्य शेष क्षितिम् ॥
(ख) यस्याद्यापि हिरण्यसरिदुद्भवन चपलोर्मिणा समुपगूढम्
रहसि कुचाग्रस्तिनाम्या प्रीतिरतिभ्यां स्मराङ्गमिव ।
(ग) लीलामन्दिरसोदरेषु भवतु स्थानेषु वासस्थितम्
शत्रूणान्तु न विग्रहोपिनिपते स्यायोऽत्र वासस्तव ।
यद्वा वा पुरुषोत्तमस्य भवतो नास्त्यव वागपि
क्षितिमंस्याधहृतश्रिय किमु भवान् क्रोड न निद्रापित ॥

(५)

शिलालेखनामवृत्तनिर्देशपूर्वक पद्यद्वयमत्रैकतरदिदं व्याख्यायतान्— १०
(क) कान्तो युवा रणपटुर्विनयान्वितश्च, राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः ।
शृङ्गारमूर्तिरभिभात्यनलङ्कृतोऽपि, रूपेण य कुसुमचाप इव द्वितीय ॥
(ख) हिमवत इव गाङ्गस्तुङ्गनम्र प्रवाह शशभृत इव रेवावारिराशि प्रथमान् ।
परमभिगमनीय शुद्धिमनन्दवाला, यत उदितगरिम्णस्तायत नेम्मानाम् ॥

(६)

ऐतिहासिकविवरणसहित निम्नाङ्कित पद्यमेक व्याख्येयम्— १०
मत्तमगण्डभित्तिविच्युतदानबिन्दुसिक्तासिताचलसहस्रविभूषितायाः ।
पुष्पावनम्रनरमण्डवनवाया भूमे पर तिलकभूतमिदं क्रमेण ॥

(७)

नीचैर्निर्दिष्टश्लोकौ यच्छिलालेखस्थौ तन्नामसमयादिकं निर्दिश्य सप्रसङ्गं व्याख्यायेताम्—

(क) प्राज्ञा मनोज्ञवपुषः प्रथितोरुवंशा वंशानुरूपचरिताभरणास्तथाऽन्ये ।
सन्त्यत्र ना प्रणयिनामुपकारदक्षा विस्रम्भपूर्वमपरे दृढसौहृदाश्च ॥
(ख) विजितविषयसङ्गैर्धर्मशीलैस्तथाऽन्यैः मृदुभिरधिकसत्त्वैर्लोकयात्राऽमरैश्च ।
स्वकुलतिलकभूतैर्मुक्तरागैरुदारैरधिकमभिविभाति श्रेणिरेवं प्रकारैः ॥

अथवा-रुद्रदाम्नः शिलालेखेन तच्चरितं कीदृशं प्रतिभासितं भवतीति—संक्षेपेण दशद्वादशपङ्क्तिभिर्विलिख्य निर्दिश्यताम् ।